अश्वत्थामा

महाभारत का शापित योद्धा

आशुतोष गर्ग

आशुतोष गर्ग का जन्म 1973 में दिल्ली में हुआ। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) तथा दिल्ली से स्नातकोत्तर डिप्लोमा (पत्रकारिता एवं अनुवाद) प्राप्त करने के पश्चात् इंदिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय से एम.बी.ए (मानव संसाधन) की डिग्री प्राप्त की। स्कूल के दिनों से ही कविताएँ और कहानियाँ लिखने का सिलसिला आरंभ हो गया था और अब तक आपके द्वारा लिखी और अनूदित लगभग 15 किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं।

आप अंग्रेजी और हिंदी दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार रखते हैं तथा अनुवाद के क्षेत्र में एक परिचित नाम हैं। दशराजन्, द्रौपदी की महाभारत, आनंद का सरल मार्ग, श्री हनुमान लीला आदि हिंदी में आपके द्वारा किये गए प्रमुख अनुवाद हैं, जिन्हें काफ़ी सराहा गया है। आशुतोष नियमित रूप से समाचार-पत्र व पत्रिकाओं में लिखते हैं। वर्तमान में, रेल मंत्रालय में उप-निदेशक के पद पर कार्यरत हैं।

पुस्तक की प्रशंसा में

स्व. मैथिलीशरण गुप्त ने उपेक्षित नायक-नायिकाओं को संदर्भ में लाने का प्रयास अपने साहित्य में लगातार जारी रखा। इसी तरह रश्मिरथी कर्ण को सन्दर्भ में लाने का श्रेय राष्ट्रकवि दिनकर को जाता है। साहित्य के कन्धों पर यह ज़िम्मेदारी है कि वह विस्मृत नायक-नायिकाओं को पुनर्स्थापित करे। ऐसा इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास और यहाँ तक कि किंवदंती के पात्र कहीं न कहीं जीवन क्रम का एक हिस्सा होते हैं और इसलिए सदा प्रासंगिक रहते हैं। 'अश्वत्थामा' इस श्रेणी में एक आवश्यक और महनीय प्रयास है। अश्वत्थामा का चरित्र रोचक परन्तु कम ज्ञात है, ऐसे में श्री आशुतोष गर्ग का यह प्रयास एक प्रशंसनीय क़दम है। उन्हें इस पुस्तक के लिए बधाई सहित शुभकामनाएँ।

—डॉ. कुमार विश्वास
कवि एवं राजनेता

'नर या कुंजर...' मनुष्य सदियों से इन्हीं शब्दों में उलझा है। अर्द्धसत्य, मनुष्य के लिए सदैव दुख का कारण और आत्म-मंथन का विषय रहा है। सत्य की खोज और कई अश्वत्थामा हमारे अवचेतन मन का हिस्सा हैं। 'अश्वत्थामा' का पात्र इसी द्वंद्व का प्रतीक है।

जब आशुतोष की किताब मुझे पढ़ने के लिए दी गई तो मुझे सबसे अच्छी बात यह लगी कि उन्होंने अपने पहले ही उपन्यास में ऐसे पात्र को चुना है, जो न अच्छा है न बुरा! अच्छे या बुरे को अलग करके देखना शायद असंभव है। क्या अच्छा है और क्या बुरा, यह अपने आप में तार्किक है, इसलिए इसका विश्लेषण ज़रूरी है। यदि उपन्यासकार हर प्रसंग में अच्छाई या बुराई ढूँढेगा तो क्या वह सही अर्थ में चरित्र के साथ इंसाफ़ कर पाएगा?

आशुतोष गर्ग का अश्वत्थामा प्रसंग के बारे में लिखना अपने आप में टिप्पणी है। आप इस किताब को पढ़ें, क्योंकि अक्सर हम बड़ी आसानी से किसी को सही या गलत कह देते हैं और इससे महाभारत के युद्ध के प्रासंगिक होने की वजह खत्म हो जाती है।

मेरी तरफ़ से आशुतोष को ढेरों शुभकामनाएँ! उम्मीद है वे इसी तरह नए एवं कठिन विषयों पर लिखते रहेंगे।

—सुतपा सिकदार
लेखिका एवं फ़िल्म निर्माता

अश्वत्थामा

महाभारत का शापित योद्धा

आशुतोष गर्ग

MANJUL
मंजुल पब्लिशिंग हाउस

MANJUL

मंजुल पब्लिशिंग हाउस

कॉरपोरेट एवं संपादकीय कार्यालय

द्वितीय तल, उषा प्रीत कॉम्प्लेक्स, 42 मालवीय नगर, भोपाल—462003

विक्रय एवं विपणन कार्यालय

7/32, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वेबसाइट: www.manjulindia.com

वितरण केन्द्र

अहमदाबाद, बेंगलुरू, भोपाल, कोलकाता, चेन्नई,

हैदराबाद, मुम्बई, नई दिल्ली, पुणे

कॉपीराइट © 2017 आशुतोष गर्ग

यह संस्करण 2017 में पहली बार प्रकाशित

ISBN 978-81-8322-806-0

आशुतोष गर्ग इस पुस्तक
के लेखक होने की नैतिक ज़िम्मेदारी वहन करते हैं

यह पुस्तक इस शर्त पर विक्रय की जा रही है कि प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इसे या इसके किसी भी हिस्से को न तो पुन: प्रकाशित किया जा सकता है और न ही किसी भी अन्य तरीक़े से, किसी भी रूप में इसका व्यावसायिक उपयोग किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो उसके विरूद्ध कानूनी कार्रवाई की जाएगी।

समस्त अभिलाषाओं
के ज्ञाता
भगवान कृष्ण के
श्रीचरणों में

विषय-सूची

आभार
भूमिका
1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20

21
22
23
24
25
26
27
28
उपसंहार

आभार

यह मेरी पहली कृति नहीं है क्योंकि मुझे अनुवाद तथा संपादन आदि से संबंधित कार्य करते काफ़ी समय बीत चुका है और इस बीच मेरे नाम से अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो गई हैं। परंतु मौलिक उपन्यासों के संदर्भ में, यह अवश्य मेरा प्रथम प्रयास है।

लेखक की यात्रा, प्रसव के समान होती है क्योंकि लेखक को अपनी पुस्तक के प्रकाशन से वही आनंद और संतोष प्राप्त होता है, जो स्त्री को संतान के जन्म के बाद मिलता है! लेखक की इस आनंदप्रद यात्रा में अनेक लोग उसके हमसफ़र होते हैं, जो क़दम-क़दम पर उसके लेखन को सँभालते और साधते हैं। वे उसके दिमाग़ में चल रही उधेड़-बुन को सुलझाते हैं, अपने सुझावों द्वारा कथा की पेचीदगियों को दूर करते हैं और बीच-बीच में उत्पन्न हताशा और मायूसी के क्षणों में लेखक को प्रेरणा देते हैं। वे लोग, लेखक को उसके अंतर्मन की गहराइयों से भावनाओं के दुर्लभ मोतियों को चुनने और उन्हें काग़ज़ पर उतारने में सहायता करते हैं। यही वे लोग हैं, जो लेखक को दरअसल, लेखक बनाते हैं!

मुझे भी इस उपन्यास की संकल्पना से लेकर इसके प्रकाशन और फिर आपके हाथों में इसके पहुँचने तक की यात्रा में अनेक लोगों ने प्रेरित किया है।

सर्वप्रथम, मैं अपने माता-पिता को प्रणाम करता हूँ, जिनका आशीर्वाद मुझे सदैव प्राप्त हुआ है। मेरे पिताजी डॉ. लक्ष्मी नारायण गर्ग ने, जो स्वयं एक प्रसिद्ध लेखक व अनुवादक हैं, हिंदू पौराणिक साहित्य से मेरा कुछ इस तरह परिचय करवाया कि पौराणिक कथाएँ, मेरे ज्ञान और चिंतन का हिस्सा बन गईं। मेरी माताजी, श्रीमती आशा गर्ग, सदा मेरे लिए साहस और संघर्ष का प्रकाश-स्तंभ रही हैं। उन्होंने मुझे सिखाया है कि संघर्षशील व्यक्ति, कभी उदास नहीं हो सकता! उनका यही गुरु-मंत्र मुझे बिना थके, कार्य करते रहने की असीम ऊर्जा देता है। मैं अपनी पत्नी गुंजन का हृदय से धन्यवाद करता हूँ, जो मेरे कार्य में मुझे सतत सहयोग देती हैं, मेरे लिखे मसौदों को बार-बार धैर्यपूर्वक सुनती हैं और जिनके सुझावों से मेरा लेखन प्रखर होता चलता है। मैं अपने योग्य पुत्र, अत्रि और चाँद-सी पुत्री, अन्नपूर्णा को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ क्योंकि वे प्रेम-भरी खिलखिलाहट और अपने अनंत स्नेह द्वारा, मेरे व्यस्त जीवन में आनंद और उल्लास के छोटे, किंतु अनमोल क्षण भरते हैं।

मैं अपने उन समस्त मित्रों को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने हमेशा मेरे लिखे को सराहा; मैं उन्हीं की प्रशंसा और प्रोत्साहन से आज इस पड़ाव तक पहुँच पाया हूँ। मैं अपने उन सभी मित्रों का भी आभारी हूँ, जिनके साथ मैंने इस पुस्तक की विषय-वस्तु पर अनेक बार विस्तार से चर्चा की और उन्होंने इसमें महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर, इसे परिष्कृत रूप देने में बहुमूल्य योगदान दिया है।

मैं अपने प्रकाशक, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, और विशेषकर, श्री विकास रखेजा तथा श्री कपिल सिंह का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस कथा के पौराणिक एवं सामाजिक महत्त्व को समझा तथा इसे पुस्तक रूप में, पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करके समाज के प्रति अपने दायित्व का प्रशंसनीय निर्वहन किया है।

मैं अंत में, श्रीहरि विष्णु के अवतार, भगवान श्रीकृष्ण को बारंबार प्रणाम करता हूँ, जो मेरे भीतर सहज-प्रज्ञा एवं अनंत ऊर्जा के स्रोत हैं!

भूमिका

पौराणिक साहित्य में दो ग्रंथ सबसे अधिक लोकप्रिय माने जाते हैं - रामायण और महाभारत। जहाँ एक ओर रामायण भाइयों के बीच अटूट प्रेम को दर्शाती भक्ति-प्रधान रचना है, वहीं महाभारत राजतंत्र और कूटनीति पर आधारित चचेरे भाइयों के बीच हुए रक्तरंजित युद्ध की महागाथा है।

महाभारत हिन्दुओं का एकमात्र ऐसा ग्रंथ है, जो धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विश्व का सबसे लंबा महाकाव्य होने के कारण, महाभारत को हिन्दू धर्म में 'पंचम वेद' भी कहा गया है। हिंदुओं की एक अन्य पवित्र पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता' भी महाभारत का ही अंश है। संपूर्ण महाभारत में एक लाख से अधिक श्लोक हैं। वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत की एक अन्य विशेषता उसकी विशालता है। इसका अनुमान उसके प्रथम पर्व के एक श्लोक से लगाया जा सकता है, जिसका आशय यह है:

जो यहाँ (महाभारत में) है वह आपको संसार में
कहीं न कहीं अवश्य मिल जाएगा,
किंतु जो महाभारत में नहीं है, वह संसार में
आपको अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा!

महाभारत में अट्ठारह की संख्या का विशेष महत्त्व है। कौरवों और पांडवों के बीच हुआ युद्ध अट्ठारह दिन चला। दोनों पक्षों की सेनाओं का सम्मिलित संख्या बल अट्ठारह अक्षौहिणी था, जिसमें ग्यारह अक्षौहिणी कौरवों की और सात अक्षौहिणी पांडवों की थी। संपूर्ण महाभारत ग्रंथ भी अट्ठारह पर्वों में विभक्त है और महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत वर्णित श्रीमद्भगवद्गीता में भी अट्ठारह अध्याय हैं। कुल मिलाकर, रामायण की तुलना में, महाभारत के प्रति लोगों के मन में कौतूहल और रुचि अधिक देखने को मिलती है। महाभारत का अचंभित कर देने वाला रोचक कथानक तथा और उसके विलक्षण एवं गुह्य पात्र पाठक को अंत तक बाँधे रखते हैं।

महाभारत युद्ध को धर्म-युद्ध भी कहा जाता है क्योंकि इसमें कौरव तथा पांडव, क्रमशः

अधर्म एवं धर्म के प्रतीक हैं और रामायण की भांति, महाभारत का अंत भी अन्याय पर, न्याय की विजय तथा धर्म की पुनर्स्थापना के साथ हुआ है। दुर्योधन के नेतृत्व में युद्धरत सभी कौरव अहंकार और हठ की वेदी में स्वाहा हो गए और अंत में पांडव विजयी हुए।

धर्म-अधर्म की ऐसी कथाओं में, पात्रों का अच्छे और बुरे खेमों में बँट जाना स्वाभाविक होता है। धर्म का साथ देने वाले को अच्छा, और अधर्म के पक्षधर को बुरा ही माना जाता है। महाभारत में भी ऐसा ही हुआ। अधर्मी दुर्योधन का साथ देने वाले सभी पात्रों को दुराचारी मान लिया गया, फिर चाहे वे कर्तव्य-निष्ठा के प्रतीक गंगा-पुत्र भीष्म हों, युद्ध-कौशल में पारंगत द्रोणाचार्य अथवा अपने अस्तित्व की तलाश करता महारथी कर्ण! इतिहास साक्षी है कि संसार ने इन महान योद्धाओं एवं नीति-निपुण लोगों को सदाचारी होने के बावजूद भी, दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करने के अपराध के लिए कभी क्षमा नहीं किया।

कौरव पक्ष के इन दुर्लभ पात्रों के बीच, एक पात्र ऐसा भी है जिसके व्यक्तित्व की आभा अन्य पात्रों की चकाचौंध में मंद पड़ गई। एक ऐसा पात्र, जो तन से जीवन-भर कपटी दुर्योधन के साथ रहा, लेकिन जिसका मन नैतिकता से नहीं डिगा। उस पात्र ने दुष्कर्मियों के बीच रहते हुए भी अपनी आत्मा को छल और कपट की काली व दूषित छाया से सदैव दूर रखा। एक ऐसा अनूठा व्यक्तित्व, जिसने अपने नीति-प्रिय हृदय को दुर्योधन की मूढ़ हठधर्मिता के निरंतर आघात से बचाए रखा। महाभारत के युद्ध के दौरान, उस पात्र से दो ऐसे अपराध हो गए, जिनके कारण भगवान श्रीकृष्ण ने उसे शाप दिया कि उसके शरीर के घाव कभी नहीं भरेंगे और वह अपने सड़े हुए, जर्जर तन को लिए चिरकाल तक पृथ्वी पर भटकता रहेगा! ऐसा माना जाता है कि वह व्यक्ति, श्रीकृष्ण द्वारा दिए गए दंड की पीड़ा आज तक भोग रहा है। महाभारत का वह अनूठा पात्र है - अश्वत्थामा! कहते हैं, कृष्ण द्वारा दिए गए शाप के कारण, अश्वत्थामा हज़ारों वर्षों के बाद, आज भी जीवित है और अपने पापों का दुष्परिणाम भोग रहा है।

यह सत्य है कि अश्वत्थामा ने युद्ध के अंत में ऐसे कुकर्म किए, जिन्होंने उसकी जीवन-भर की शुचिता और सौम्यता को छिन्न-भिन्न कर डाला। मैं यह भी मानता हूँ कि उसके ये दुष्कर्म अक्षम्य अपराधों की श्रेणी में आते हैं। यह भी सत्य है कि दुर्योधन जैसे कपटी और कुबुद्धि वाले व्यक्ति का साथ देने के कारण अश्वत्थामा निंदनीय है। परंतु फिर यह भी सत्य है कि ये सारी बातें अर्द्ध-सत्य हैं!

कोई भी व्यक्ति, पूरी तरह न अच्छा होता है और न बुरा। प्रत्येक मनुष्य के भीतर अच्छाई और बुराई दोनों का समावेश होता है और महाभारत के अन्य पात्रों की भांति, अश्वत्थामा में भी उसी तरह की चारित्रिक दुर्बलताएँ मौजूद थीं, जैसा कि अन्य मनुष्यों में होती हैं। दुर्योधन के प्रति निष्ठा के फलस्वरूप, परिस्थितिवश, अश्वत्थामा द्वारा किए गए अनुचित कर्मों की बात करते समय, हमें यह भी मानना पड़ेगा कि वह एक अदम्य योद्धा था और उसके भीतर सहृदयता एवं नीतिवान होने के लक्षण भी विद्यमान थे। उसके व्यक्तित्व के सद्गुणों को समझे और जाने बिना ही, उसे दुर्योधन के समकक्ष, दुराचारी व दुष्ट समझा जाता

है। केवल इसलिए कि उसने हताशा व क्रोधातिरेक की स्थिति में भ्रूण-हत्या जैसा घिनौना एवं धर्म विरुद्ध अपराध किया, उसके व्यक्तित्व के अन्य गुणों तथा चारित्रिक विशेषताओं की सिरे से उपेक्षा कर देना उस महान योद्धा के साथ अन्याय है। महाभारत के युद्ध में ऐसे अनेक पात्र हैं जो अश्वत्थामा की भांति छलपूर्ण रक्तपात के दोषी हैं, किंतु सबसे अधिक कष्टदायक और दीर्घकालिक दंड केवल अश्वत्थामा को मिला।

यहाँ, भगवान श्रीकृष्ण के दंड विधान को चुनौती देना मेरा लक्ष्य नहीं है क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं ईश्वर का अवतार हैं और ईश्वर के विधान में त्रुटि होने की कल्पना करना व्यर्थ है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए, अश्वत्थामा भी उस शाप से उत्पन्न कष्ट को भोगने के दौरान, आत्म-मंथन तथा निष्पक्षता से अपने व्यवहार का विश्लेषण करता रहता है। वह अपने जीवन की अच्छी-बुरी घटनाओं को याद करता है तथा कृष्ण द्वारा दिए गए उस अत्यंत दीर्घकालिक शाप के कारणों को खोजने का प्रयास करता है। अंत में, वह कृष्ण के उस विकट शाप का औचित्य समझने में सफल हो जाता है। उसे पता लगता है कि कृष्ण ने उसे भयंकर दशा में जीवित छोड़कर, आधुनिक मानव समाज को महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है!

मैंने बचपन से आज तक, जब भी महाभारत की कथा को पढ़ा-सुना, मेरे मन में अश्वत्थामा के प्रति सदा सहानुभूति व करुणा के भाव ही जाग्रत हुए। इसलिए मैंने सोचा था कि यदि कभी महाभारत के किसी पात्र पर कुछ लिखने की इच्छा हुई तो मैं अश्वत्थामा पर अवश्य लिखूँगा क्योंकि मैं चाहता हूँ कि लोग अश्वत्थामा के व्यक्तित्व को परिपाटी से थोड़ा हटकर समझने का प्रयास करें। यही कारण है कि मैंने इस उपन्यास में, महाभारत की गाथा को अश्वत्थामा के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करके, उसके सहृदय पक्ष को उकेरने और श्रीकृष्ण का सदियों पहले दिया संदेश अपने सुधी व आधुनिक पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया है। इस कार्य से श्रीकृष्ण द्वारा शापित अश्वत्थामा के तन के घाव बेशक न भर सकें, किंतु उसकी निष्कपट आत्मा पर लगे हजारों वर्षों पुराने आघात पर मरहम अवश्य लगेगा!

आजकल अनेक टी वी चैनलों और सोशल मीडिया आदि में अश्वत्थामा के प्राचीन मंदिरों और जंगलों में दिखाई देने की ख़बरें भी देखने-सुनने में आती हैं। यहाँ तक कि अश्वत्थामा को खोजने के प्रयास भी किए जाते रहे हैं। अश्वत्थामा को अमर मानकर, उसकी खोज करने वाले लोगों के लिए भी इस उपन्यास में एक संदेश है, जिसे समझने और उस पर अमल किए जाने की आवश्यकता है।

एक बात और! लोग प्रायः चीज़ों को स्पष्ट रूप से देखना चाहते हैं किंतु हमेशा ऐसा संभव नहीं होता। आपके और मेरे दृष्टिकोण के अलावा एक और दृष्टिकोण होता है, जो तटस्थ रहता है; वह इधर या उधर नहीं झुकता। किसी व्यक्ति के चरित्र के विषय में जल्दी-से निर्णय देना बहुत सरल है लेकिन हमें इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए क्योंकि इस जल्दबाजी से, उस व्यक्ति के साथ अन्याय होने की संभावना बढ़ जाती है। मैं जानता हूँ कि अश्वत्थामा के बारे में लोगों की आम धारणा कैसी है। यदि यह उपन्यास अश्वत्थामा के विषय में आपके किसी पूर्वाग्रह को चुनौती देता है या आपको उसके विषय में दोबारा सोचने पर विवश करता

है, तो मैं इसे अपनी रचनात्मक सफलता समझूँगा।

चूंकि यह मेरा पहला मौलिक उपन्यास है, बहुत संभव है कि मुझसे अज्ञानतावश, बीच-बीच में अभिव्यक्ति अथवा तथ्य-संबंधी त्रुटियाँ हुई हों। मैं अपने सुधी पाठकों से उन व्यक्त-अव्यक्त भूलों के लिए क्षमा माँगता हूँ तथा अनुरोध करता हूँ कि वे बेहिचक, मुझे अपने सुझाव और प्रतिक्रियाएँ भेजें, ताकि मैं अपनी आने वाली पुस्तकों में उन सुझावों का ध्यान रख सकूँ।

तो आइए, मैं अब आपको अश्वत्थामा के पास लिए चलता हूँ, जो किसी अज्ञात निर्जन वन में आपको अपने दृष्टिकोण से महाभारत की ऐतिहासिक कथा और अपने मन की व्यथा सुनाने को उत्सुक बैठा है!

—आशुतोष गर्ग
नई दिल्ली
ईमेल: ashutoshgarg343@gmail.com

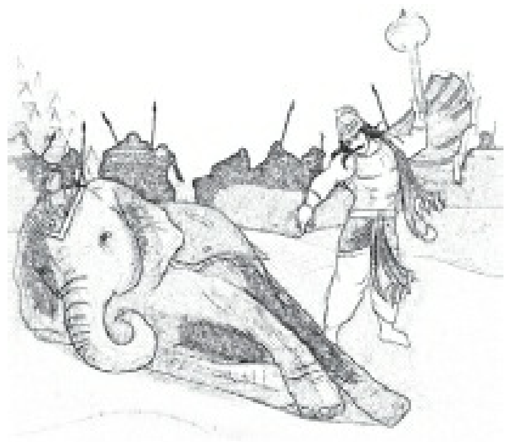

1

कहते हैं, मनुष्य के जन्म के साथ ही उसकी मृत्यु का समय भी निर्धारित हो जाता है, लेकिन मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। जहाँ तक मेरे जन्म का प्रश्न है, वह तो अपने पूर्वनियोजित समय पर ही हुआ, किंतु मेरे जन्म के हज़ारों वर्ष बाद भी नियति ने मेरी मृत्यु के समय और स्थान के विषय में अभी तक कोई निर्णय नहीं लिया है। हालांकि, मेरे जीवन की दशा देखकर इस बात की संभावना भी बनती है कि विधाता ने नियमानुसार, मेरे जन्म की भांति, मेरी मृत्यु का समय तो निर्धारित किया था किंतु, मेरी परिस्थितियों और मेरे कर्मों (जिन्हें शायद अब कर्म की जगह, दुष्कर्म कहना बेहतर होगा) के फलस्वरूप, नियति ने उसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देना उचित समझा। मेरे समय में कुछ ऐसे समकालीन ब्रह्मज्ञानी व तत्त्व-वेत्ता लोग भी थे जो, यदि आज जीवित होते तो शायद मुझे मेरी मृत्यु के विषय में कुछ बता पाते। परंतु यह भी मेरा ही दुर्भाग्य है कि वह सब एक-एक करके शताब्दियों पूर्व स्वर्ग या नरक - कौन जाने कहाँ - गमन कर गए और मैं आज भी अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा में पृथ्वी पर अकेला, बेसहारा और बेहाल भटक रहा हूँ।

मुझे अपनी जर्जर शारीरिक अवस्था तथा हेय मनोदशा का वर्णन करने की इच्छा तो

नहीं है, किंतु आपको यह बताना इसलिए अनिवार्य है क्योंकि इस कथा के अंत में आपको मेरे कर्म और उनके लिए मुझे मिले दंड का निष्पक्ष विश्लेषण करना है। इसके बाद ही आप यह समझ पाएँगे कि मेरे बारे में आपने अब तक जो कुछ पढ़ा है, सुना है, और आप जो कुछ मेरे विषय में सोचते हैं, क्या वह सचमुच सही है!

मेरा तन लहूलुहान हो गया है और मैं अनेक असाध्य आधि-व्याधियों से ग्रस्त हूँ। मेरे शरीर पर लगे घावों से निरंतर मवाद का स्राव होता रहता है, जिसके कारण मेरे तन से भयंकर दुर्गंध आती है। इस कारण स्नान किए बिना तो चैन मिलने का प्रश्न ही नहीं, और स्नान करने के बाद स्थिति और बिगड़ जाती है क्योंकि पानी पड़ने से मेरे घाव गीले हो जाते हैं, फिर उनसे हो रहा मवाद का स्राव और उससे उत्पन्न दुर्गंध भी बढ़ जाती है। मेरी दुर्दशा की चरम सीमा यह है कि मुझे स्वयं नहीं पता कि अब मेरे तन में रक्त की मात्रा अधिक है अथवा मवाद की! मेरे तन के किसी भी अंग की बात करें तो यही स्थिति है। मेरे बाल मूँज से भी ज़्यादा कड़े हो चुके हैं। मेरे भीतर अब उन्हें न तो सुलझाने की हिम्मत शेष है और न ही धैर्य। मेरे नाख़ून इतने बड़े और काले हो चुके हैं कि उन्हें यदा-कदा देखकर मैं स्वयं भयभीत हो जाता हूँ। साधारण मनुष्य के दाँत कुछ ही वर्षों में गिरने लगते हैं और फिर उसे खाने-पीने में परेशानी होती है, लेकिन मेरी स्थिति भयावह है। आपको यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि मेरे अधिकतर दाँत अभी तक हैं, किंतु समय के साथ वे इतने काले, सख़्त और टेढ़े हो गए हैं कि मुझे किसी वस्तु के खाने का एहसास नहीं होता और प्रायः मुझे यह भी पता नहीं लगता कि मेरे मुँह में फल हैं या कंकड़! अपनी पैनी दृष्टि और श्रवण-शक्ति पर कभी मुझे इतना गर्व था कि शब्द-भेदी बाण चलाने में पांडु-पुत्र अर्जुन के अतिरिक्त मेरा कोई सानी नहीं था। तथापि, आज मेरी स्थिति ऐसी है कि मेरे नेत्र कुरुवंश की महारानी गांधारी के नेत्रों की तरह अर्थहीन हो चुके हैं क्योंकि मुझे आँखें होते हुए भी साफ़ दिखाई नहीं देता। जहाँ तक बोलने व सुनने का प्रश्न है, तो यहाँ भी मुझसे ज्यादा अभागा कोई नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण के शापवश कई शताब्दियों से मुझे इन बीहड़ व निर्जन वनों में बात करने वाला कोई व्यक्ति नहीं मिला है।

मेरा मन जब बहुत दुखी हो जाता है, तो सामान्य मनुष्यों की भांति, मेरा भी रोने का मन करता है। मैं चाहता हूँ कि मेरी आँखों से आँसू निकलें ताकि मेरा मन हलका हो सके, लेकिन मेरा दुर्भाग्य अपनी चरमावस्था में है और वह मुझे ऐसी अवस्था में ले आया है जहाँ अब मेरी आँखों से अश्रु भी नहीं निकलते। उनके स्थान पर भी नेत्रों से रक्त की बूँदें ही टपकती हैं। पिछले लगभग पाँच सौ वर्षों से मैंने दिन के प्रकाश में विचरण करना छोड़ दिया है क्योंकि सूर्य की गर्मी से मेरी त्वचा पुराने चिथड़े की तरह, जगह-जगह से फटने लगी है। एक निर्जन बीहड़ की गहन गुहा अब मेरा निवास स्थान है। बहुत वर्ष पूर्व मैं जब कभी हलके प्रकाश में बाहर जाया करता था तो मैंने ध्यान दिया कि जंगल के वन्य एवं हिंस्र पशु-पक्षी तक मेरे निकट आने से डरते थे। मुझे देखकर उनकी आँखों में भय की छाया मँडराने लगती थी। धीरे-धीरे मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं रहा कि मेरा रूप उन ख़तरनाक जीव-जंतुओं से भी अधिक वीभत्स हो चुका है। इसी कारण अब मैं केवल अमावस्या के गहन अँधकार में

ही बाहर आता हूँ जिससे कि मैं और वे एक-दूसरे को देख नहीं पाते तथा हमारे संसार में परस्पर किसी प्रकार के टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। ऐसे में, बहुत-से निशाचर प्राणियों को मेरी अनुपस्थिति का लाभ मिलता है और उन दिनों उस क्षेत्र में उनका एकछत्र शासन होता है। परंतु मैं जब कभी एक माह में एक बार, अपनी बारह हाथ ऊँची विशाल किंतु जीर्ण काया को किसी तरह ढोते हुए अपनी गुहा से बाहर निकलता हूँ तो निशाचर जगत के वे सब हिंस्र पशु भयभीत होकर अपनी-अपनी माँद में दुबक जाते हैं और श्वास रोके मेरे भोजन से निवृत्त होने की प्रतीक्षा करते हैं। इतने वर्षों के एकाकी तथा वन्य जीवन ने मुझे अनोखे पशु में परिवर्तित कर दिया है। मेरे लिए जीवन की इस अपरिमित अवधि के दौरान, फल और मांस का अंतर मिट गया है और स्वाद अपना महत्त्व खो चुका है। मैं फलों के रस और पशुओं के रक्त का अंतर भूल चुका हूँ। जो आनंद मुझे किसी रसदार फल को चूसने में आता है, वही तृप्ति मांस के लोथड़े को कुतरने में मिल जाती है।

मेरे तन के इन घावों से कहीं अधिक पीड़ादायक, पाँच अबोध बालकों की हत्या और निर्दोष उत्तरा के गर्भस्थ बालक के वध से उत्पन्न ग्लानि का दंश है। मेरे उसी दुष्कर्म के दंड स्वरूप श्रीकृष्ण ने मुझे यह शाप दिया कि मेरे तन के घाव कभी नहीं भरेंगे और मैं इस सड़ी काया को लिए हज़ारों वर्षों तक इसी प्रकार पृथ्वी पर भटकता रहूँगा। उन्होंने यह भी शाप दिया कि मैं जब तक जीवित रहूँगा, मेरी किसी व्यक्ति से बात नहीं हो सकेगी। श्रीकृष्ण यह शाप देकर ही नहीं रुके, उन्होंने मेरे अपने छुरे से काटकर, मेरे मस्तक की वह दिव्य मणि भी निकाल ली, जो जन्म के समय मेरे मस्तक में लगी हुई थी। वही मणि मेरी असाधारण बुद्धि, शक्ति और सामर्थ्य का स्रोत थी। उस मणि का घाव मेरे माथे से आज भी रिसता है।

कृष्ण के उसी हृदय-विदारक शाप के फलस्वरूप मैं हज़ारों वर्षों से इस मर्त्यलोक में भांति-भांति के असाध्य कष्टों के साथ अपने पाप का बोझ उठाकर घूमने को बाध्य हूँ। कुल मिलाकर, मेरा जीवन पशु से बदतर हो गया है और मैं स्वयं जीवित होकर भी किसी सड़े-गले शव से अधिक कुछ नहीं हूँ! यूँ कहने को, मैं चिरंजीवी हूँ, अमर हूँ किंतु पूर्ण सत्य यह है कि मैं शापित हूँ, कलंकित हूँ और इस विशाल पृथ्वी पर कोई ऐसा मनुष्य नहीं जो मेरे दुख को कम कर सके। यह मेरे अपयश की पराकाष्ठा है कि समूची पृथ्वी पर आपको मेरे नाम का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं मिलेगा।

जी हाँ, मेरा नाम अश्वत्थामा है और मैं अभी ज़िंदा हूँ!

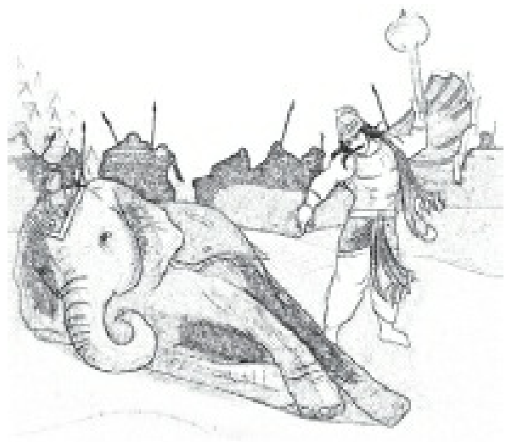

2

द्वापर युग में हुए महाभारत युद्ध के समय से एक और व्यक्ति है जिसे अमरत्व प्राप्त है। हालांकि उन्हें अमरता, मेरी तरह शाप के रूप में नहीं, बल्कि वरदान स्वरूप प्राप्त हुई थी। मेरी तरह मेरे मामा कृप भी, जिन्हें संसार कृपाचार्य के नाम से अधिक जानता है, अब तक जीवित हैं। महाभारत के युद्ध के बाद और पांडवों के हिमालय में महाप्रस्थान के कुछ समय बाद तक कृप मामा और मेरी मुलाक़ात होती रही। परंतु श्रीकृष्ण के शापवश मेरे सामाजिक संबंध भी कटने लगे थे और लोगों ने मुझसे मिलना-जुलना और बातचीत करना लगभग बंद कर दिया था। शायद यही कारण था कि उस घटना के कुछ ही वर्ष बाद मेरे मामा ने भी मेरा साथ छोड़ दिया। कृपाचार्य शायद जानते हों कि मैं कहाँ हूँ, किंतु मुझे उनके विषय में अब कोई जानकारी नहीं है।

यह कथा मैं सुना रहा हूँ इसलिए वैसे तो मेरा और मेरे माता-पिता का उल्लेख पहले होना चाहिए, परंतु चिरंजीवी का संदर्भ निकल आया तो मैंने अपने मामा कृपाचार्य का उल्लेख कर दिया। अब जब कृपाचार्य की बात उठ ही गई है, तो मैं इस महागाथा का आरंभ भी उन्हीं की कथा से करता हूँ। वैसे भी, इस निर्जन बीहड़ में बैठकर मेरे पास इन बातों को

स्मरण करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प भी नहीं है। कृपाचार्य स्वभाव से अत्यंत सौम्य और सहनशील थे। उनके नाम की भांति उनके जन्म की कथा भी बहुत रोचक है।

अंगिरस वंश में एक तेजस्वी बालक ने जन्म लिया जो बाद में महर्षि गौतम के नाम से विख्यात हुआ। गौतम मुनि तथा उनकी पत्नी अहल्या के घर एक विलक्षण बालक ने जन्म लिया। जन्म के समय ही, उसके तन पर शर (बाण) बँधे थे तथा वह बलिष्ठ काया से युक्त था। अपने पुत्र का यह अद्‌भुत रूप देखकर महर्षि गौतम की प्रसन्नता की ठिकाना न रहा और बहुत विचार करने के उपरांत उन्होंने अपने शरयुक्त बालक का नाम शरद्वान रख दिया। बालक शरद्वान का मन आरंभ से ही वेदाभ्यास में कम और धनुर्वेद में अधिक लगता था। एक महर्षि की संतान की विद्याध्ययन में अरुचि होना महर्षि गौतम के लिए निराशा के साथ-साथ अचरज का विषय था। परंतु जिस बालक का जन्म ही बाणों के साथ हुआ हो, उसके धनुर्विद्या के पूर्व संस्कार कितने प्रबल रहे होंगे, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है! अपने पुत्र की प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए गौतम ऋषि ने विधि के विधान में हस्तक्षेप न करने का निर्णय किया और अपने पुत्र शरद्वान को धनुर्वेद को अंगीकार करने की सहर्ष अनुमति दे दी। इसका परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था।

समय के साथ, शरद्वान ने बलिष्ठ व ओजस्वी युवक का रूप धारण कर लिया और वह धीरे-धीरे धनुर्विद्या में पारंगत हो गए। शरद्वान की काया योद्धा की अवश्य थी किंतु एक महर्षि का पुत्र होने के नाते तपस्या का गुण भी शरद्वान को नैसर्गिक रूप से प्राप्त हुआ था। उन्होंने अपने पिता के मार्गदर्शन में कठोर तप द्वारा एक-एक करके सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र प्राप्त कर लिए और वह एक श्रेष्ठ तपस्वी के साथ-साथ असाधारण योद्धा भी बन गए। विलक्षण धनुर्विद्या और तपोबल की महिमा से शीघ्र ही पृथ्वीलोक में, शरद्वान की कीर्ति पताका फहराने लगी।

शरद्वान जब धनुर्विद्या का अभ्यास करते तो देवतागण भी उसे ऊपर से देखा करते थे और जब वह धनुष को कंधे से उतारकर, कुशासन पर तपश्चर्या के लिए बैठते तो भी देवलोक में उथल-पुथल आरंभ हो जाती थी। इतिहास साक्षी है, पृथ्वी पर जब-जब किसी योद्धा या तपस्वी के यश का डंका बजता है, तो उसके नाद से यदि किसी को अपने प्रभुत्त्व पर सबसे पहले आँच आने का भय उत्पन्न होता है, तो वह देवराज इंद्र हैं! ऐसी विषम परिस्थितियों में इंद्र हमेशा से जो करते आए हैं, उन्होंने इस बार भी उसी कृत्य की पुनरावृत्ति की। ज्यों ही इंद्र ने शरद्वान का यशोगान सुना, उन्होंने शरद्वान के तप में विघ्न डालने तथा कीर्ति को कलंकित करने के उद्देश्य से जानपदी नाम की देवकन्या को शरद्वान के पास भेज दिया। शरद्वान जिस समय अपने आश्रम में तपस्या में लीन थे, जानपदी ने उनके आश्रम में प्रवेश किया। देवकन्या की अलौकिक सुगंध से शरद्वान का आश्रम महक उठा। वहाँ विचरण कर रहे पशु-पक्षी भी रुककर जानपदी को देखने लगे। जानपदी धीमे क़दमों से शरद्वान के समीप पहुँच गई। उसके कामुक तन की मादक सुगंध ज्यों ही शरद्वान तक पहुँची, उसने अपना जादुई प्रभाव ऋषि पर छोड़ दिया। दिव्य सुगंध से प्रभावित होकर शरद्वान ने धीरे-से आँखें खोली तो

जानपदी को सामने खड़ा देखकर हतप्रभ रह गए। शरद्वान के नेत्रों में सहसा उत्पन्न हुई चमक से स्पष्ट था कि जानपदी के रूप एवं लावण्य ने उन्हें सम्मोहित कर दिया था।

"तुम कौन हो देवी? तुम मेरे आश्रम में किस प्रयोजन से आई हो?"

"मेरा नाम जानपदी है! मैं भ्रमण करती हुई इधर से निकल रही थी कि तभी आपके ऊपर दृष्टि पड़ गई। आपका अत्यंत प्रभावशाली रूप देखकर मैं स्वयं को रोक न सकी और भीतर चली आई। आपकी चौड़ी छाती, पुष्ट कंधे तथा सुंदर बलिष्ठ काया से आपके शरीर में दौड़ रहे क्षत्रिय रक्त का आभास मिलता है, किंतु आपके मुख के तेज एवं नेत्रों में तपश्चर्या की चमक से आपके तपस्वी होने का भी संकेत मिल रहा है। कृपया आप स्वयं बताएँ कि आप ऋषि हैं अथवा क्षत्रिय?" जानपदी ने अपना असली प्रयोजन छिपाते हुए नाटकीय ढंग से पूछा।

"देवी, मैं महर्षि गौतम का पुत्र शरद्वान हूँ। जन्म से तो ऋषि-पुत्र ही हूँ किंतु मेरा मन धनुर्विद्या में अधिक रमता है और यही कारण है कि युद्ध-कौशल के सतत अभ्यास ने मेरी काया को क्षत्रियों जैसा रूप व सौष्ठव प्रदान कर दिया है। आप अपने विवेक के आधार पर जो चाहें, समझ लें, किंतु मेरी एक विनती है कि आप यहाँ से तत्काल प्रस्थान करें ताकि मैं अपनी तपस्या जारी रख सकूँ।"

"ऋषिवर, मुझे आपके ऋषि अथवा योद्धा होने से कोई सरोकार नहीं है। मुझे तो आपके रूप ने मोहित कर लिया है। मेरे लिए अब यहाँ से लौट पाना संभव नहीं है। कृपया मुझे अपनी दासी के रूप में स्वीकार करें।" ऐसा कहकर जानपदी ने शरद्वान को झुककर प्रणाम किया और उनके अत्यंत समीप आ गई। शरद्वान ने बहुत प्रयास किया लेकिन वह अपनी दृष्टि जानपदी के अलौकिक सौंदर्य से हटा नहीं पाए। जिस प्रकार व्याध के जाल में फँसा पंछी छटपटाता है, उसी प्रकार शरद्वान की इंद्रियाँ जानपदी के सौंदर्य जाल में उलझकर व्याकुल होने लगीं। इंद्र की चाल सफल हो गई थी। शरद्वान का युवा तन-मन पूरी तरह जानपदी के ऐंद्रिय सौंदर्य के वशीभूत हो गया था।

शरद्वान ने जिस धनुष के द्वारा समस्त संसार में अपने नाम का डंका बजाया था, उस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाना भी उनके लिए संभव नहीं था। जानपदी के रूप पर मोहित शरद्वान के संयम का बाँध ढहने को ही था कि अचानक उनका तपस्वी विवेक पुनः जाग्रत हो गया और उन्होंने अत्यंत कठिनाई से किसी प्रकार स्वयं को सँभाल लिया। हालांकि मन में उत्पन्न हुए विकार के चलते उनका ओजस्वी तन उत्तेजित हो चुका था। स्वयं को रोक लेने के बावजूद शरद्वान का वीर्य स्खलित हो गया और नीचे पड़े सरकंडों पर गिर गया। अपने मन की चंचलता को देखकर शरद्वान को अत्यधिक ग्लानि हुई और उन्होंने अपने धनुष, बाण और मृगचर्म का सदा के लिए त्याग कर दिया तथा आश्रम छोड़कर चले गए। शरद्वान ने आश्रम तो छोड़ दिया, किंतु उनके वीर्य की प्रबलता से नीचे पड़ा सरकंडा दो भागों में विभक्त हो गया। सरकंडे के उन दो भागों से दो शिशुओं का जन्म हुआ। एक बालक था और एक

बालिका थी।

उधर देवकन्या जानपदी इंद्र के द्वारा दिए गए कार्य को पूर्ण करने के पश्चात वहाँ से अंतर्धान हो गई किंतु शरद्वान के वीर्य से उत्पन्न बालक-बालिका का युगल वहीं धरती पर लेटा रोता रहा। सामान्य तौर पर, ऐसी स्थिति में वन के बीच स्थित आश्रम में असहाय व नवजात शिशुओं का जीवित बच पाना असंभव है, किंतु यदि ऐसा हो जाता तो यह कथा आगे कैसे बढ़ती? इसलिए, ऐसा कुछ नहीं हुआ!

संयोग से, उसी समय महाराज शांतनु आखेट पर निकले हुए थे और वे घूमते हुए शरद्वान के आश्रम के निकट आ पहुँचे। वहाँ उन्हें नवजात शिशुओं का करुण क्रंदन सुनाई पड़ा तो वह तुरंत आश्रम के भीतर गए। बिलखते हुए बच्चों का ओजमयी रूप देखकर शांतनु को यह समझते देर न लगी कि उन दोनों शिशुओं में किसी तेजस्वी पुरुष का अंश था। उन्होंने दोनों बच्चों पर कृपा करने का निर्णय किया और उन्हें उठाकर अपने साथ महल में ले आए। वहाँ शांतनु ने दोनों बच्चों का पालन-पोषण अपनी संतान की भांति किया। उचित समय पर बच्चों के नामकरण का अवसर आया तो शांतनु ने इस कार्य के लिए अपने गुरु एवं अन्य ब्राह्मणों को बुलवाया।

यज्ञ एवं पूजा-अर्चना समाप्त होने के बाद शांतनु ने अपने गुरु से कहा, “गुरुदेव, इन दोनों शिशुओं के लिए कोई उचित नाम बताइए?”

गुरुजी ने अपनी आँखें बंद कीं और कुछ पल सोचने के बाद बोले, “महाराज, चूंकि इन दोनों बच्चों को आपकी कृपा के कारण जीवनदान मिला है, इसलिए इनका नाम भी इसी गुण के आधार पर रखना उचित होगा। मेरा सुझाव है कि आप बालक का नाम ‘कृप’ तथा बालिका का नाम ‘कृपी’ रखें।”

“जो आज्ञा, गुरुदेव! कृपया आप कृप और कृपी के भविष्य के विषय में भी कुछ बताएँ।”

“महाराज! भविष्यवाणी करना ईश्वर के विधान में विघ्न डालने के समान होता है, इसलिए मैं इनके भविष्य के विषय में कुछ नहीं कहूँगा, किंतु आपने पूछा है इसलिए इतना बता सकता हूँ कि यह बालक कृप अत्यंत भाग्यशाली होगा और यह भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली वंश का कुलगुरु बनेगा।”

“अति उत्तम!” शांतनु ने हर्षित होकर कहा, “और गुरुदेव, कृपी? उसका भविष्य कैसा होगा?”

“कृपी का भाग्य विचित्र होगा। इसका जीवन तपस्विनी के रूप में बीतेगा। यह अस्त्र-शस्त्रों के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता की पत्नी बनेगी और एक अत्यंत वीर पुत्र को जन्म देगी किंतु...”

“किंतु क्या गुरुदेव?” शांतनु के माथे पर चिंता की लकीरें उभर आईं।

“... मैंने कहा था महाराज कि मैं अधिक कुछ नहीं कहूँगा। अब चलता हूँ। ईश्वर इन दोनों बच्चों का कल्याण करें!” राजा शांतनु के माथे पर चिंता की लकीरों को छोड़कर, गुरुदेव राजमहल से बाहर निकल गए।

इस बीच, आश्रम छोड़कर वन में तपस्या करने चले गए शरद्वान को अपने तपोबल से अपनी दोनों संतान तथा उनके जन्म की कथा का बोध हो गया। वे भावुक हो गए और स्वयं को उन्हें देखने से रोक न सके। शरद्वान तत्काल राजा शांतनु के पास जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने शांतनु को अपने आश्रम में जानपदी की पूरी कथा विस्तार से कह सुनाई। शरद्वान की कथा सुनकर राजा शांतनु का कोमल हृदय बहुत दुखी हुआ। उन्होंने शरद्वान से आग्रह किया कि वे स्वयं बालक कृप को शिक्षा-दीक्षा, धनुर्विद्या तथा समस्त शास्त्र-वेदों का ज्ञान प्रदान करें। अपने पुत्र को शिष्य के रूप में पाकर शरद्वान अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने शांतनु का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

अपने परमज्ञानी पिता व गुरु के सान्निध्य में कुछ ही समय में कृप सभी विषयों के आचार्य हो गए। राजा शांतनु के गुरु की भविष्यवाणी के अनुसार, यही कृप आगे चलकर कुरुवंश के कुलगुरु कृपाचार्य के रूप में विख्यात हुए।

यह मात्र संयोग है कि कृपाचार्य मेरे मामा हैं और वह भी मेरी तरह चिरंजीवी हैं!

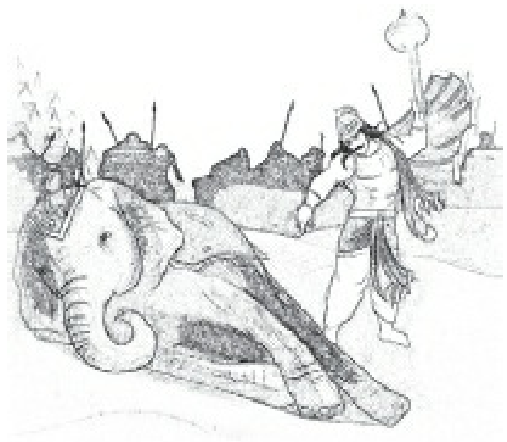

3

सच कहूँ तो मेरा उद्देश्य अपनी कथा सुनाना नहीं है। मैं तो यहाँ इस वीरान जंगल में अकेला बैठा अपने पापों का बोझ ढो रहा हूँ। मेरे पास जो भी पुरानी स्मृतियाँ हैं उन्हें कभी-कभी याद करके अपना मन हलका कर लिया करता हूँ और यही कारण है कि इस कथा में घटनाओं के किसी निश्चित क्रम में होने की संभावना कम है। इससे पहले कि मुझे कोई अन्य बात स्मरण हो आए और मेरा कथानक भटक जाए, मैं आपको अपने पिता के जन्म और फिर अपने जन्म के विषय में बताता हूँ।

यह एक विचित्र संयोग है कि मेरे मामा कृपाचार्य की भांति मेरे पिता द्रोण का जन्म भी एक महान तपस्वी की उद्वेलित कामवासना के फलस्वरूप हुआ था। एक अन्य दुर्भाग्यपूर्ण संयोग यह है कि मेरे पिता के जन्म में भी देवराज इंद्र ने वही कुटिल भूमिका निभाई थी जो उन्होंने मेरे मामा कृप के जन्म के संदर्भ में निभाई थी।

कहते हैं, उस समय गंगाद्वार नाम के एक स्थान पर महर्षि भरद्वाज का आश्रम था। उन्होंने अपने व्रतशील स्वभाव से संपूर्ण संसार में यश अर्जित किया था। ऐसा माना जाता था कि उस काल में पृथ्वी पर महर्षि भरद्वाज की गिनती उन गिने-चुने ऋषि-मुनियों में होती थी

जिन्होंने अपने तप और संयम से अपनी समस्त इच्छाओं और कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है और आप भी यह बात जानते हैं कि पृथ्वीलोक पर किसी भी मनुष्य के आत्म-संयम एवं तप की विजय-गाथा का प्रचार सुनकर देवराज इंद्र का सिंहासन तत्काल डोलने लगता था और उनके पास ऋषि-मुनियों के आध्यात्मिक विजय-रथ को रोकने का एकमात्र साधन था — अप्सराएँ और उनका कामास्त्र! इंद्र के दरबार में एक से बढ़कर एक अप्सराएँ और देवकन्याएँ थीं, जिनका उपयोग इंद्र अपने मनोरंजन करने तथा मनुष्यों व दैत्यों की तपस्या में विघ्न डालने के लिए किया करते थे। इंद्र के दरबार की लगभग सभी अप्सराएँ कामुकता की प्रतिमाएँ होने के साथ-साथ पुरुष-वशीकरण की कला में इतनी दक्ष थीं कि उनके दृष्टिपात मात्र से ऋषि-मुनियों तथा बड़े-बड़े धुरंधर तपस्वियों का ऐंद्रिय संयम चूर हो जाता था और कुछ का तो शुक्रपात भी हो जाया करता था!

शरद्वान की भांति भरद्वाज मुनि की ख्याति ने भी इंद्र को आक्रांत किया हुआ था। भरद्वाज कोई साधारण ऋषि नहीं थे और उनके संयम की शक्ति एवं तपोबल से भयभीत होने के कारण अधिकतर अप्सराओं ने उनकी साधना भंग करने की चुनौती को विनम्रता से अस्वीकार कर दिया। तब इंद्र ने बहुत सोच-विचार के उपरांत अपने दरबार में उपस्थित घृताची नाम की एक अत्यंत कामुक और रूपवती अप्सरा को बुलाया।

"क्या आज्ञा है देवराज?" घृताची ने इंद्र को प्रणाम करते हुए पूछा।

"आह, घृताची!" इंद्र ने मुग्ध होकर घृताची को देखा और कहा, "तुम मेरे दरबार की श्रेष्ठ अप्सराओं में से हो। तुम समस्त कलाओं में निपुण हो और तुम्हारे अलौकिक सौंदर्य के मोहजाल से बच पाना किसी साधारण मनुष्य के लिए असंभव है। मैं चाहता हूँ कि तुम पृथ्वीलोक पर जाओ और अपने रूप से भरद्वाज मुनि के तपोबल को क्षीण कर दो।"

"परंतु," घृताची ने सकुचाते हुए कहा, "भरद्वाज मुनि साधारण मनुष्य नहीं हैं।"

"जानता हूँ," इंद्र ने कहा, "परंतु तुम भी तो साधारण अप्सरा नहीं हो, घृताची! तुम्हारे लिए भरद्वाज मुनि को अपने मार्ग से डिगाना सरल नहीं किंतु असंभव भी नहीं है। मुझे विश्वास है कि तुम इस कार्य में अवश्य सफल हो जाओगी। इसके अतिरिक्त, हमारे पास तर्क करने का समय नहीं है। इसे हमारी राजाज्ञा समझो!" घृताची ने इंद्र को प्रणाम किया और भरद्वाज का तप भंग करने के लिए गंगाद्वार चल पड़ी।

नित्य-कर्म से निवृत्त होकर महर्षि भरद्वाज गंगास्नान के उपरांत अपने आश्रम की ओर लौट रहे थे कि तभी उनकी दृष्टि घृताची पर पड़ी जो नदी से स्नान करके बाहर निकल रही थी। भीगे वस्त्रों में उसके कामुक तन और भरे-पूरे अंगों को देखकर महर्षि भरद्वाज रुक गए। उन्होंने अपने नेत्र बंद करके स्वयं को नियंत्रित करने का प्रयास किया। अगले ही क्षण उनकी आँखें फिर से घृताची के रूप का रसपान करने लगीं। उन्होंने बहुत चाहा किंतु वे घृताची के ऊपर से अपनी दृष्टि हटा नहीं पाए। सिर से पैर तक भीगे श्वेत वस्त्रों में लिपटी घृताची के

उन्मत्त कर देने वाले यौवन ने भरद्वाज के तपोबल की प्रचंड अग्नि पर अपनी कामुकता का मंद व सुखद छिड़काव करना आरंभ कर दिया था। कुछ ही क्षणों में घृताची को देखते-देखते ही भरद्वाज स्खलित हो गए!

स्खलन का एहसास होते ही भरद्वाज सँभल गए, किंतु उनसे भूल हो चुकी थी। उन्होंने अपने ओजपूर्ण वीर्य को धरती पर नहीं गिरने दिया और उसे अपने यज्ञपात्र में रख लिया। उनके यज्ञपात्र का नाम द्रोण था। नियत समय पर, उस पात्र में से एक तेजस्वी बालक ने जन्म लिया। महर्षि भरद्वाज ने अपने यज्ञपात्र के नाम पर ही अपने पुत्र का नाम द्रोण रखा। भरद्वाज को पता था कि उनके वीर्य से उत्पन्न पुत्र, उन्हीं की भांति विलक्षण एवं प्रतिभावान होगा। महर्षि भरद्वाज ने अपने पुत्र को अपना शिष्य बना लिया और सभी वेद-वेदांग की शिक्षा दी। इसी के साथ, द्रोण को अस्त्र-शस्त्र की भी शिक्षा दी गई। एक समय आया जब पृथ्वी पर अस्त्र-शस्त्र की विद्या के संदर्भ में द्रोण से अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं था। भरद्वाज मुनि अपने योग्य पुत्र को आग्नेयास्त्र नाम के एक विशेष अस्त्र का ज्ञान भी देना चाहते थे। परंतु उन्होंने वह ज्ञान, द्रोण के जन्म से पूर्व ही, अग्निवेश्य को दे दिया था, इसलिए द्रोण को आग्नेयास्त्र की शिक्षा देने का कार्य अग्निवेश्य ने संपूर्ण किया। आगे चलकर, द्रोण कौरवों और पांडवों के गुरु द्रोणाचार्य कहलाए। महर्षि भरद्वाज के ब्रह्मलीन हो जाने के बाद द्रोण ने अपने पिता के आश्रम में रहना आरंभ कर दिया। कालांतर में, द्रोण ने शरद्वान की पुत्री कृपी से विवाह कर लिया। कृपी बड़ी धर्मशीला एवं जितेंद्रिया स्त्री थी। द्रोण और कृपी के संयोग से मेरा जन्म हुआ। इसी संबंध के चलते मेरी माता कृपी के भाई कृपाचार्य मेरे मामा हो गए।

मेरे जन्म की कथा तो इतनी ही है। जहाँ तक मेरे नाम का प्रश्न है, तो उस नाम का रहस्य मुझे बाद में मेरे माता-पिता ने बताया था। जन्म के समय सभी बच्चे रोते हैं और उनका रुदन अत्यंत सामान्य रुदन होता है, किंतु जब मेरा जन्म हुआ तो मैंने उस समय अपने मुख से उच्चैःश्रवा नामक अश्व के समान स्वर उच्चरित किया था। इसी अश्व जैसे स्वर के कारण मेरे पिता द्रोण ने मेरा नाम 'अश्वत्थामा' रख दिया।

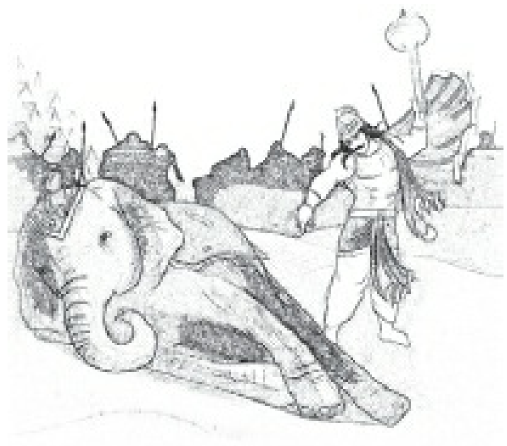

4

बात उन दिनों की है जब मैं कोई आठ-दस वर्ष का था। मेरे पिता द्रोण की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी और हम लोगों को बहुत कठिनाई से दो समय का भोजन मिल पाता था। मेरे पिता अत्यंत स्वाभिमानी पुरुष थे। उन्होंने अत्यधिक बुद्धिमान एवं विलक्षण धनुर्विद्या के ज्ञाता होने के बावजूद कभी किसी से किसी प्रकार के अनुग्रह की अपेक्षा नहीं की। भिक्षाटन से ही हमारा जीवन-निर्वाह होता था। यही कारण था कि हमारी आर्थिक स्थिति में बहुत समय तक कोई सुधार नहीं हुआ।

एक दिन मैं अपने कुछ साथी बालकों के साथ खेलने के लिए बाहर पहुँचा तो देखा कि उनके होंठ पर कोई सफ़ेद पदार्थ लगा हुआ था। मैंने उनसे पूछा तो पता लगा कि वे सब अपने-अपने घर से दूध पीकर आए थे।

“दूध! भला यह क्या होता है?” मैंने कौतूहल वश अपने एक मित्र से पूछा।

“अरे अश्वत्थामा, तुझे दूध नहीं पता?” यह कहते हुए सब लोग मुझ पर हँसने लगे। मैंने यह बात अपनी माता को बताई तो उनकी आँखें भर आईं। मैं उस समय उनके रोने का

कारण समझ नहीं सका।

मैंने माँ से कहा, “माँ, मुझे भी दूध पीना है।”

माँ ने नम आँखों से क्षणभर के लिए कुछ सोचा और फिर रसोईघर में चली गईं। कुछ ही देर में वे दूध-जैसा श्वेत मीठा पतला घोल लेकर आईं और मुझे पिला दिया। चूंकि मैंने असली दूध कभी देखा नहीं था और न पिया था, इसलिए वह सफ़ेद मीठा घोल पीकर मुझे लगा कि मैंने दूध पी लिया। मैं जब अपने साथियों के साथ खेलने गया बाहर गया तो वे मुझे देखकर फिर हँसने लगे।

एक ने कहा, “अरे अश्वत्थ! यह आटे का घोल कहाँ से लगा लिया मुँह पर?”

“यह आटे का घोल नहीं है; मैं दूध पीकर आया हूँ!” मैंने गर्व से कहा।

“अरे देखो, अपना अश्वत्थ भी दूध पीकर आया है!” सब साथी फिर हँसने लगे।

मैं चिढ़ गया और रोता हुआ घर लौट आया। कुछ देर बाद पिताजी घर आए। उन्होंने जब यह घटना सुनी तो दुखी भाव से मेरी माँ को देखने लगे।

माँ ने कहा, “दरिद्रता का एहसास दरिद्र होने से भी अधिक कष्टदायक होता है!”

“बहुत हुआ! मुझे कुछ करना ही पड़ेगा!” पिताजी की भँवें तन गईं थीं, “इस तरह दरिद्रता का दंश सहना अब कठिन है।”

माता कृपी ने संयमपूर्वक पिता से कहा, “यदि छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए हमें प्रतिदिन इसी तरह लज्जित होना पड़ा तो कुछ दिन बाद अश्वत्थामा का भरण-पोषण करना भी हमारे लिए कठिन हो जाएगा। आप कहते थे कि गुरुकुल के समय का आपका मित्र द्रुपद, आजकल पंचाल देश का राजा है। आप उसके पास जाकर सहायता क्यों नहीं माँगते?”

मैंने पहले भी बताया कि मेरे पिता बहुत स्वाभिमानी थे। किसी के सामने साथ फैलाने का विचार उन्हें स्वप्न में भी न आता, परंतु पत्नी व पुत्र के उत्तरदायित्त्व के भार और दिनोंदिन बढ़ती दरिद्रता ने आख़िर द्रोण के आत्म-सम्मान को ध्वस्त कर दिया।

अगले ही दिन द्रोण पंचाल के लिए रवाना हो गए। उन्हें मार्ग में द्रुपद के साथ गुरुकुल में बिताए दिन याद आ रहे थे। बचपन की मीठी स्मृतियों से उनका मन विश्रांति महसूस कर रहा था। उन सुखद स्मृतियों के सहारे पाँच घंटे की लंबी यात्रा को मानो पंख लग गए और जब द्रोण वर्तमान में लौटे तो उन्होंने स्वयं को द्रुपद के राजमहल के सामने खड़ा पाया। उन्होंने मन ही मन यह मान लिया था कि द्रुपद अपने बचपन के सखा को देखते ही पहचान लेगा और दौड़कर उससे लिपट जाएगा। द्रोण को भरोसा हो गया कि उनके बुरे दिन समाप्त होने वाले थे।

आत्मविश्वास से भरे द्रोण ने गर्व के साथ सिर उठाकर द्रुपद के दरबार में प्रवेश किया। जहाँ एक ओर अनेक वर्षों की दरिद्रता ने द्रोण की काया को जीर्ण और उनके रूप को क्षीण कर दिया था, वहीं शासन और भोग-विलास ने द्रुपद के व्यक्तित्व में संपन्नता और वैभव की चमक भर दी थी। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। द्रोण को देखते ही द्रुपद के नेत्रों में स्नेह की झिलमिलाहट उभर आई। द्रोण का अनुमान सही था कि द्रुपद ने देखते ही उन्हें पहचान लिया था। फिर वह द्रोण को गले लगाने के लिए अपने सिंहासन से भी उठ गया। सबकुछ द्रोण की कल्पना के अनुसार ही हो रहा था। सहसा द्रुपद को लगा, जैसे उसके सिर पर रखा मुकुट भारी हो गया था और वह उसके बोझ से उठ नहीं पा रहा था। राज-गरिमा ने द्रुपद को जकड़ लिया और दरबारियों की उत्सुक दृष्टि ने द्रुपद के पाँवों में संकोच की बेड़ियाँ डाल दीं।

"आप कौन हैं और मुझसे क्या चाहते हैं?" द्रुपद ने लज्जा के पर्दे के पीछे से छिपकर पूछा।

द्रोण अचंभित रह गए। परंतु वर्षों के कटु अनुभव से उन्हें यह समझते देर न लगी कि उनके सामने गुरुकुल का सखा द्रुपद नहीं, बल्कि पंचाल नरेश द्रुपद खड़ा था। द्रुपद के छद्म रूप से द्रोण के चेहरे पर आश्चर्य, अविश्वास और निराशा के मिश्रित भाव उभर आए। यह जानते हुए कि द्रुपद सबकुछ जानकर भी नासमझ बनने का ढोंग कर रहा था, द्रोण ने पुरानी मित्रता और राज-प्रतिष्ठा का सम्मान करते हुए द्रुपद को एक और अवसर देने का फ़ैसला किया।

"राजन! मैं आपका मित्र द्रोण हूँ। आपको स्मरण होगा कि हम दोनों मेरे पिता भरद्वाज मुनि के आश्रम में एक साथ पढ़ते थे। जब हमारी शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो गई तो गुरुकुल से प्रस्थान करते समय आपने मुझसे कहा था, "द्रोण! तुम मेरे सबसे अच्छे मित्र हो और मैं जब राजा बन जाऊँगा तो उस समय तुम जो चाहोगे, तुम्हें मिलेगा!"

द्रुपद ने अपने स्मृति-पटल को टटोला। उसे द्रोण को दिया यह वचन स्पष्ट दिखाई दे रहा था, परंतु अहंकार और राजप्रतिष्ठा ने द्रुपद की बुद्धि पलट दी।

वह बोला, "अरे भिक्षु! लगता है तेरा मानसिक संतुलन बिगड़ गया है और तेरी बुद्धि ने तेरा साथ छोड़ दिया है। क्या तुझे इतना भी नहीं पता कि मित्रता बराबर वालों में होती है? अगर भूल से धनवान की मित्रता निर्धन से हो भी जाए तो वह अधिक नहीं चलती और शीघ्र ही मिट जाती है।"

मेरे पिता को द्रुपद पर कितना क्रोध आया होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है! यदि वे चाहते तो अपने तपोबल से द्रुपद को शाप देकर तत्काल दंडित कर सकते थे। परंतु भरद्वाज ऋषि का पुत्र होने के नाते उन्हें ज्ञात था कि क्रोध को तुरंत व्यक्त कर देने से उसकी तीव्रता न केवल मंद पड़ जाती है अपितु वह अनायास ही क्षमादान की संभावना भी उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत, यदि क्रोध की चिंगारी को धैर्य एवं संयम की पर्त की नीचे छिपा लिया जाए तो वह समय के साथ प्रचंड अग्नि का रूप धारण कर लेती है और फिर

प्रतिशोध ही उसके शमन का एकमात्र उपाय रह जाता है!

द्रोण ने किसी तरह संयम रखा और क्रोध को मन में ही दबा लिया। वे नहीं चाहते थे कि द्रुपद को शाप द्वारा तत्काल दंडित करके उनका क्रोध शांत हो जाए। कहते हैं, शूल को निकालने के लिए भी शूल की आवश्यकता होती है। द्रोण का आहत मन उस अपमान के शूल को निकालने तथा उससे उत्पन्न पीड़ा का शमन करने हेतु कोई अन्य उचित प्रतिशोध रूपी शूल खोजने लगा। उन्होंने द्रुपद पर एक तीखी दृष्टि डाली और मन में उसके सर्वनाश का कठोर संकल्प लेकर चुपचाप राजमहल से बाहर निकल गए।

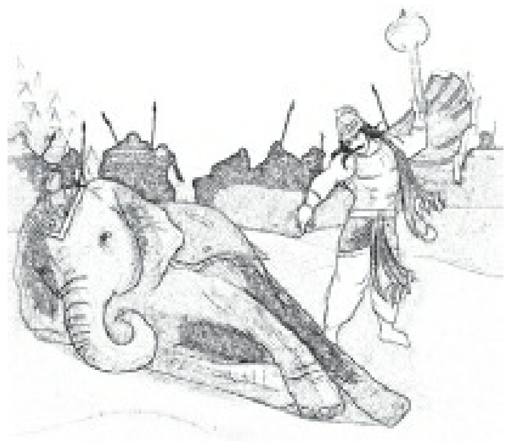

5

द्रोण तेज़ क़दमों से चलते हुए पंचाल राज्य की सीमा से बाहर निकल आए थे। आगे बढ़ते प्रत्येक क़दम के साथ, उनके हृदय का क्षोभ बढ़ रहा था तथा प्रतिशोध की प्रचंडता तीव्र होती जा रही थी। वह घूमते हुए एक स्थान पर आ पहुँचे। वहाँ द्रोण ने देखा कि कुछ बालक एक कुएँ के अंदर झाँक रहे थे। वे उनके पास पहुँचे और पूछा, “बच्चों, तुम कौन हो और इस कुएँ में क्या देख रहे हो?”

“हम लोग कुरुवंश के राजकुमार हैं, ऋषिवर! इस कुएँ में हमारी गेंद गिर गई है। हम सोच रहे हैं कि इसे बाहर कैसे निकाला जाए।” एक बालक ने कहा।

बालकों का परिचय पाते ही द्रोण कुछ सोचने लगे। वे धीरे-से मुस्कराए। वे समझ गए थे कि उन बालकों की समस्या के निदान द्वारा ही उनकी अपनी समस्या का निवारण संभव था।

“बस, इतनी सी बात के लिए परेशान हो?” द्रोण ने हँसते हुए कहा। “जाओ और जल्दी से आस-पास पड़े कुछ सरकंडे ले आओ। हम अभी तुम्हारी गेंद बाहर निकाल देते

हैं।”

यह सुनकर बालक प्रसन्न हो गए। उन्होंने शीघ्र ही द्रोण के सामने बहुत-से सरकंडे लाकर रख दिए और फिर कौतूहल से ब्राह्मण की ओर देखने लगे। द्रोण ने झटपट कुछ सरकंडे उठाए और फिर बाण की तरह निशाना साधकर, उन्हें एक के बाद एक कुएँ में फेंकने लगे। बालकों ने देखा कि द्रोण द्वारा फेंके गए पहले सरकंडे ने गेंद को मध्य से बींध दिया था तथा बाद में फेंके गए सरकंडे एक-दूसरे से जुड़ते जा रहे थे। कुछ ही पलों में द्रोण ने अंतिम सरकंडा पकड़कर ऊपर खींचा तो उसके साथ गेंद सहित सभी सरकंडे कुएँ से बाहर निकल आए। द्रोण का यह अद्‌भुत चमत्कार देखकर बालकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे ख़ुशी-ख़ुशी अपनी गेंद लेकर राजमहल लौट आए। वहाँ जब उन्होंने अपने पितामह, भीष्म को यह बात सुनाई तो भीष्म को यह समझते देर न लगी कि उनके राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र की विद्या प्रदान करने हेतु उससे बेहतर गुरु नहीं मिलेगा! भीष्म ने तत्काल राजकर्मियों को उस विलक्षण ब्राह्मण को राजमहल लेकर आने का आदेश दिया। उधर द्रोण को भी भली-भांति पता था कि गेंद वाली बात सुनते ही उनकी खोज आरंभ हो जाएगी और शीघ्र ही कोई उन्हें लेने आएगा। ऐसा ही हुआ!

राजकर्मियों के साथ द्रोण राजमहल पहुँच गए। भीष्म ने अत्यंत आदर-सत्कार के साथ मेरे पिता का स्वागत किया और कहा, “ऋषिवर! मैं आपसे विनती करता हूँ कि आप यहीं हस्तिनापुर में रहकर कुरु राजकुमारों को धनुर्वेद तथा अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दीजिए। आज से कौरवों का धन, राज्य तथा वैभव आपका है। आपका आगमन हमारे लिए अहोभाग्य है!” यह कहकर भीष्म ने कुरु राजकुमारों की शिक्षा का दायित्त्व द्रोण को सौंप दिया।

इस बात से मुझे भी प्रत्यक्ष लाभ हुआ। चूंकि मेरे पिता अब कुरु राजवंश के उत्तराधिकारियों के गुरु बन गए थे, तो यह स्वाभाविक था कि मेरी शिक्षा-दीक्षा भी अपने पिता के सान्निध्य में राजसी ठाठ-बाट से होने लगी। इस बीच, मुझे पांडवों और कौरवों को निकट से देखने और उनके स्वभाव एवं चरित्र को समझने का भी अवसर मिला। मैं समय-समय पर उनके विषय में भी बात करूँगा।

भीष्म के साथ हुई भेंट ने हमारे परिवार की दरिद्रता को पलक झपकते दूर कर दिया। यद्यपि मेरे पिता के लिए उससे भी अधिक संतोष की बात यह थी कि उन्हें द्रुपद के साथ प्रतिशोध का खेल खेलने के लिए अब न सिर्फ़ बिसात मिल गई थी, अपितु अबोध कुरु राजकुमारों के रूप में मोहरे भी उपलब्ध हो गए थे। दुर्भाग्य से, मैं भी उन मोहरों में सम्मिलित हो गया था। हालांकि मैं इस बात को मानता हूँ कि द्रुपद ने मेरे पिता द्रोण के साथ अपने राजदरबार में जो किया वह सर्वथा अनुचित और अभद्र था, फिर भी मेरा मानना है कि द्रुपद को सबक़ सिखाने का जो तरीक़ा मेरे पिता ने चुना, वह अधिक विकृत एवं अशोभनीय था। अपनी हठी कामना की पूर्ति हेतु मेरे पिता, मुझे भी अपने वैमनस्य की आग में झोंकने का निर्णय ले चुके थे।

भीष्म द्वारा द्रोण की राजसी नियुक्ति से उनकी महत्त्वाकांक्षा पुष्ट होने लगी। अब उनके पास अपने निजी युद्ध-कौशल और ज्ञान के अतिरिक्त कुरु राजवंश का अवलंब भी उपलब्ध था। उन्होंने पूरी निष्ठा और लगन से कौरव तथा पांडव कुमारों को धनुर्विद्या एवं अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान देना आरंभ कर दिया। यूं तो सभी शिष्य मेहनती थे, किंतु पांडव राजकुमार अर्जुन में कुछ विशिष्ट था जिसके कारण वह हम सबसे अलग एवं श्रेष्ठ था। निस्संदेह, अर्जुन में श्रेष्ठ धनुर्धर बनने के सभी गुण थे। वह लगन, परिश्रम और एकाग्रता में हम सबसे आगे था। उसके इन्हीं गुणों के कारण वह शीघ्र ही मेरे पिता द्रोण का सबसे प्रिय शिष्य भी बन गया।

द्रोण को आचार्य की पदवी मिल चुकी थी, किंतु वे राजकुमारों के गुरु होने के साथ-साथ मेरे पिता भी थे। गुरु होने के नाते सबको एक साथ पढ़ाना उनकी विवशता था परंतु यह स्वाभाविक था कि उनका पितृ-मन सदा यह प्रयास करता रहता कि कैसे भी, वे मुझे पांडवों व कौरवों से अधिक ज्ञान प्रदान कर दें। यहाँ तक कि ऐसा करने के लिए उन्होंने एक युक्ति भी खोज ली। अभ्यास के बीच में वह अपने शिष्यों को पानी लाने के लिए भेज देते थे। पानी के लिए सबको एक-एक पात्र दिया जाता था। द्रोण अपने अन्य शिष्यों को पानी लाने के लिए सँकरे मुँह वाला पात्र देते थे, जबकि मुझे जो पात्र मिलता था, उसका मुँह चौड़ा था। इसके फलस्वरूप मेरा पात्र अन्य लोगों के पात्र से पहले भर जाता था और मैं पानी लेकर जल्दी लौट आता था। इतनी देर में, मेरे पिता अन्य शिष्यों के पहुँचने से पहले, मुझे अस्त्र-विद्या का कोई न कोई नया गुप्त रहस्य सिखा देते थे जिससे उनके अन्य शिष्य वंचित रह जाते थे।

अपने पिता के इस स्वभाव में घुले छल से मेरा पहली बार तभी सामना हुआ जब उन्होंने यह पात्र वाली युक्ति अपनाई थी। उनके प्रति मेरे मन में अतिशय सम्मान था, किंतु मुझे जब उनके चरित्र की इस दुर्बलता का भान हुआ तो मुझे मन में क्षोभ तो हुआ। परंतु मुझे भी उस समय जीवन का अनुभव कम था और मेरे भीतर भी कुरु राजकुमारों से श्रेष्ठ बनने की इच्छा व्याप्त थी। मेरी इसी महत्त्वाकांक्षा ने द्रोण के इस छलपूर्ण व्यवहार को अनचाहे ढंग से मूक सहमति प्रदान कर दी।

कुछ समय तो इस तरह चलता रहा, किंतु एक दिन अर्जुन को इस बात का पता लग गया। उसे अपने गुरु के पक्षपातपूर्ण व्यवहार पर क्रोध तो अवश्य आया होगा किंतु द्रोण और मेरे बीच गुरु-शिष्य के अतिरिक्त पिता-पुत्र का भी संबंध था, इसलिए हम दोनों में से किसी को कुछ भी कह पाना अर्जुन के लिए कठिन था। सबकुछ जानते हुए भी अर्जुन ने न तो इस बात को अपने मन पर हावी नहीं होने दिया और न ही उसने अपने गुरु के प्रति मन मैला किया। इसीलिए मैंने पहले भी कहा और फिर कहता हूँ कि अर्जुन हम सबसे अलग था। उसने द्रोण की निंदा अथवा शिकायत करने के बजाय, उनकी चाल की काट खोज ली और स्वयं को द्रोण का सच्चा शिष्य सिद्ध किया। अर्जुन ने विशेष साधना द्वारा द्रोण से वरुणास्त्र का प्रयोग सीख लिया था, जिसके द्वारा जल-वर्षा की जा सकती थी। अर्जुन अपना जल-पात्र भरने के लिए इस अस्त्र का प्रयोग करने लगा और वह भी अपना पात्र भरकर मेरे साथ

ही लौट आता था। पता नहीं क्यों, लेकिन अपने पिता की कुटिलता को असफल होते देख मुझे अच्छा लग रहा था। मैं चरित्र की शुचिता को धनुर्विद्या से बढ़कर मानता हूँ। यह बात वैसे तो इतनी बड़ी नहीं थी लेकिन जिस प्रकार नींबू की सिर्फ़ एक बूंद पड़ जाने से दूध फट जाता है और फिर पीने योग्य नहीं रहता, उसी तरह द्रोण के इस क्षुद्र कपट के कारण मेरे निश्छल मन में अपने पिता के लिए जो आदर था, उसकी आधारशिला को ठेस पहुँची थी।

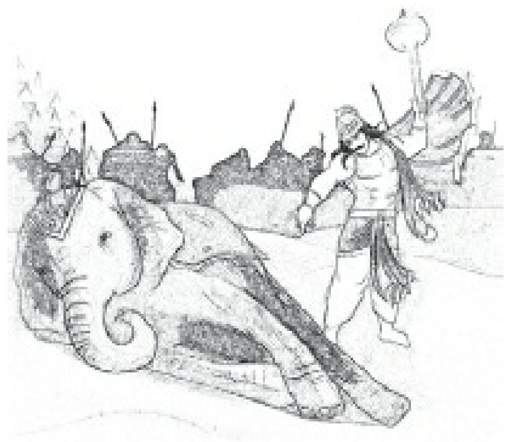

6

इस घटना के तुरंत बाद, अर्जुन ने आचार्य द्रोण से शब्द-भेदी बाण चलाने की विद्या सीखना शुरू कर दिया। अन्य लोग जब सो जाते थे तो रात्रि के गहन अंधकार में बाहर निकलकर अर्जुन शब्दभेदी बाण चलाने का अभ्यास किया करता था। धीरे-धीरे द्रोण के मन में अर्जुन के प्रति प्रेम प्रगाढ़ होता गया। एक दिन अर्जुन की धनुर्विद्या से प्रभावित होकर भावावेश में द्रोण ने उसे यह वचन दे डाला, “अर्जुन! मैं प्रयास करूँगा कि संसार में तुम्हारे समान कोई अन्य धनुर्धर न हो!” यह वचन सुनने में बड़ा सुखद लगता है, किंतु इस कठिन वचन के अनुपालन के लिए द्रोण ने जाने-अनजाने कई अपराध भी किए और दुर्भाग्य से, मैं उन सब अपराधों का साक्षी रहा हूँ।

जैसे-जैसे हम लोगों का प्रशिक्षण आगे बढ़ा, द्रोण के शिक्षा-कौशल की कीर्ति चहुँ ओर फैलने लगी। दूर-दूर से अनेक राजकुमार उनके पास शिक्षा-दीक्षा के लिए आते थे परंतु शिष्य बनाने से पहले द्रोण आगंतुक को धनुष देकर उसकी परीक्षा लेते, तथा उसकी पात्रता जाँचने के बाद ही अंतिम निर्णय लेते थे। द्रोण की कसौटी पर खरा उतरना सिंह के मुँह से उसका भोजन चुराने के समान था। एक दिन एक युवक द्रोण के पास आया।

“प्रणाम गुरुवर!” युवक ने आदर सहित कहा, “मैं आपसे धनुर्विद्या सीखना चाहता हूँ। कृपया मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।”

“तुम कौन हो वत्स?” द्रोण ने पूछा।

“मैं निषादपति हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य हूँ,” वह बोला। “मैंने आपका बहुत यश सुना है। यदि आप मुझे अपना शिष्य बना लें तो मेरा जीवन धन्य हो जाएगा।”

“मैं अवश्य तुम्हें शिक्षा देता वत्स,” द्रोण बोले, “किंतु मुझे खेद है, तुम्हें कोई दूसरा गुरु तलाशना होगा।”

“किंतु मेरा दोष क्या है, गुरुवर?” एकलव्य ने व्याकुल स्वर में पूछा।

“एकलव्य, तुम्हारा संबंध निषाद जाति से है और मैं केवल क्षत्रिय कुमारों को शिक्षा देता हूँ। तुम्हें शिष्य बनाना मेरे सिद्धांतों के विरुद्ध है।”

एकलव्य के चेहरे पर उदासी छा गई। उसने एक और प्रयास किया और कहा, “गुरुवर, आप एक बार धनुष पर मेरे अभ्यास की जाँच कर लीजिए और यदि मैं आपकी परीक्षा में उत्तीर्ण न हो पाऊँ तो मैं स्वयं ही यहाँ से चला जाऊँगा।” एकलव्य के आत्मविश्वास को देखकर स्पष्ट था कि वह धनुष चलाने में प्रवीण था और बहुत आशा लेकर द्रोण के पास आया था। द्रोण ने उसके प्रस्ताव को अनसुना कर दिया और उसे हाथ के इशारे से चले जाने को कहा।

“आप मुझे अपना शिष्य भले ही न बनाएँ आचार्य,” एकलव्य ने हाथ जोड़कर कहा, “किंतु मैं हृदय से आपको अपना गुरु मान चुका हूँ! आज्ञा दीजिए, चलता हूँ।” एकलव्य ने द्रोण को प्रणाम किया और वहाँ से चला गया।

एकलव्य ने जाते समय मुड़कर मेरी ओर देखा। उसकी दृष्टि में छिपे भाव ने मुझे भीतर तक बींध दिया। क्षत्रिय राजकुमारों के साथ चल रही मेरी शिक्षा क्या द्रोण के सिद्धांतों के अनुकूल थी? क्या एक बार फिर पुत्र—मोह ने गुरु—धर्म को लज्जित नहीं कर दिया था?

उसके जाने के बाद मैंने देखा कि मेरे पिता होंठ दबाकर मुसकरा रहे थे। मैंने उन्हें इस तरह मुस्कराते पहले कभी नहीं देखा था। उनकी मुस्कराहट के पीछे क्या छिपा था? क्या इसमें भी कोई चाल थी जिसका उद्घाटन होना शेष था। अध्यापन के कुशासन पर बैठकर द्रोण अपने शिष्यों को बताया करते थे कि व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु कर्म से बड़ा होता है। परंतु उन्होंने स्वयं ही एकलव्य की प्रतिभा और उसके सीखने की क्षमता का आकलन उसके जन्म के आधार पर कर लिया था।

एकलव्य वाली घटना को बहुत समय बीत गया। एक बार हम सभी गुरु द्रोण के साथ आखेट पर निकले। उस समय एक कुत्ता भी हमारे साथ चल रहा था। घूमते-घूमते, वह कुत्ता थोड़ा आगे निकल गया। थोड़ी देर में, हमने उस कुत्ते की ज़ोर—ज़ोर से भौंकने की आवाज़

सुनी। कुछ पल बाद, भौंकने की आवाज़ बंद हो गई और वह भागता हुआ वापस लौट आया। उसकी दशा देखकर हम सभी दंग रह गए। कुत्ते का मुँह तीरों से बिंधा हुआ था किंतु उसके शरीर पर कोई घाव नहीं था। देखने से लगता था कि किसी कुशल धनुर्धर ने कुत्ते के शरीर को कोई क्षति पहुँचाए बिना, बहुत दक्षता से उसका मुँह बाणों से बींधकर बंद कर दिया था। मूक पशु पर हुए इस अत्याचार को देखकर राजकुमारों को क्रोध आ गया। उनका क्षत्रिय रक्त उबाल खाने लगा और हम सब उसी दिशा में दौड़े जहाँ से कुत्ता लौटा था।

हमने देखा कि मृगचर्म पहने और सिर पर जटाएँ बाँधे एक युवक हमारी ओर पीठ करके खड़ा था। सामने पेड़ पर उसका लक्ष्य बँधा हुआ था। उसकी दाईं ओर एक ऋषि की मिट्टी से बनी प्रतिमा स्थापित थी और प्रतिमा के गले में पुष्प-हार लटका हुआ था।

"कौन हो तुम?" अर्जुन ने दूर से चिल्लाकर युवक से पूछा। उसकी पीठ अब भी हमारी ओर थी और वह धनुष पर चढ़ा बाण छोड़ने वाला था।

अर्जुन की आवाज़ सुनकर, युवक ने धनुष की डोर ढीली छोड़ दी और बाण हाथ में लेकर हमारी ओर मुड़ा।

"अरे, यह तो एकलव्य है!" मैंने उत्तेजित होकर कहा।

हमारे साथ आए द्रोणाचार्य को देखते ही एकलव्य ने अपने धनुष-बाण धरती पर रख दिए और झुककर उन्हें प्रणाम किया।

"एकलव्य, तुम!" द्रोण ने अचंभित होकर कहा। उनकी दृष्टि मिट्टी की प्रतिमा पर पड़ी तो देखा कि वह उनकी अपनी प्रतिमा थी।

"जी गुरुदेव!" एकलव्य ने कहा, "मैंने आपसे कहा था कि आप मुझे अपना शिष्य भले ही न बनाएँ किंतु मैं हृदय से आपको अपना गुरु मान चुका हूँ। आपने जब मुझे अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया तो मैंने यहाँ वन में आपकी प्रतिमा बना ली और इसी से प्रेरणा लेकर धनुर्विद्या का अभ्यास करता रहा। आज मैं आपकी कृपा एवं आशीर्वाद से धनुर्विद्या में पारंगत हो गया हूँ और स्वयं को आपके किसी भी शिष्य से बेहतर सिद्ध कर सकता हूँ!" एकलव्य को विश्वास था कि द्रोण उसकी भक्ति व निष्ठा से प्रसन्न हो जाएँगे। वह भाव-विभोर दृष्टि से द्रोण को देखने लगा।

द्रोण के अतिरिक्त, वहाँ मौजूद सभी पांडव एवं कौरव राजकुमारों की आँखों में एकलव्य की प्रतिभा के लिए प्रशंसा थी। सभी एकलव्य की लगन और परिश्रम से अत्यंत प्रभावित थे और उसकी धनुर्विद्या ने सबको रोमांचित कर दिया था। तथापि, अर्जुन कुछ उद्विग्न दिखाई दे रहा था। वह समझ गया कि एकलव्य के रहते उसके लिए संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बन पाना सरल नहीं होगा। जो दक्षता और फुर्ती एकलव्य के पास थी, वही अर्जुन के पास भी थी किंतु अर्जुन यह सोचकर डर गया कि जो व्यक्ति गुरु की प्रतिमा से प्रेरणा पाकर इतना कुछ सीख सकता है, वह सचमुच गुरु के सान्निध्य में रहने से क्या कुछ

नहीं कर सकता! यह विचार अर्जुन की भावी योजनाओं को धराशायी करने के लिए पर्याप्त था।

अर्जुन ने कातर भाव से द्रोणाचार्य को देखा। अर्जुन के चेहरे के भाव देखकर द्रोण ने अर्जुन के मन की हताशा को भाँप लिया। उन्हें अपना वचन याद आ गया जो उन्होंने अर्जुन को दिया था: “अर्जुन! मैं प्रयास करूँगा कि संसार में तुम्हारे समान कोई और धनुर्धर न हो!” द्रोण की भँवें तन गईं। वह शांत खड़े अपनी प्रतिमा को एकटक देखते रहे। मैं अपने पिता की सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव—भंगिमा से भली—भांति परिचित था। उन्हें इस तरह शांत देख मैं समझ गया कि उनके इस भीरू मौन के पीछे एक भयानक तूफ़ान पनप रहा था। उन्होंने दो क्षण से भी कम का समय लिया और फिर उनके भाव एकदम बदल गए। उनके उद्विग्न चेहरे पर मुस्कान छा गई।

“एकलव्य!” द्रोण ने एकलव्य से कहा, “तुम सचमुच मेरे सच्चे शिष्य हो। मुझे तुम पर गर्व है।”

उनकी यह बात सुनकर अर्जुन के अतिरिक्त सबके चेहरे पर प्रसन्नता छा गई। द्रोण की विनयशीलता ने सबके अंतर को छू लिया था। उन्हें लगा कि थोड़ा देर से ही सही, किंतु आचार्य द्रोण ने एकलव्य को पहले अपना शिष्य स्वीकार न करने की भूल का परिमार्जन कर लिया था। परंतु मुझे अपने पिता के स्वभाव में यह परिवर्तन कुछ विचित्र लगा। मेरा मन कह रहा था कि द्रोण ने अभी अपनी बात पूरी नहीं कही है।

“... परंतु एकलव्य,” द्रोण ने प्रतिमा की ओर देखते हुए कहा, “यदि तुमने सचमुच मुझे अपना गुरु मानकर यह विद्या सीखी है तो नियमानुसार तुम्हें गुरु दक्षिणा भी देनी चाहिए!”

“अवश्य गुरुदेव!” एकलव्य ने नतमस्तक होकर कहा, “जो कुछ मेरे पास है, वह आपका ही दिया हुआ है। आप निस्संकोच अपनी दक्षिणा माँगिए। मैं अपना वचन पूरा करूँगा।”

“बहुत अच्छा! मुझे गुरु-दक्षिणा में तुम्हारे दाहिने हाथ का अँगूठा चाहिए!” द्रोण ने अत्यंत ठंडे स्वर में एकलव्य से कहा।

मेरा अनुमान ठीक था। मेरे पिता ने अपना दाँव खेल दिया था। सभी राजकुमार अपने गुरु की इस कठोर माँग को सुनकर स्तब्ध रह गए।

द्रोणाचार्य ने एक झटके में अर्जुन को दिए वचन की रक्षा हेतु उसकी राह में सहसा उग आए एकलव्य नामक संभावित शूल का समूल नाश कर दिया था। अर्जुन का तन एक पल को तो काँप उठा, किंतु फिर उसका अभिलाषी मन प्रफुल्लित हो गया। अर्जुन का मन दो भागों में बँट गया। उसका एक मन अपने गुरु का जीवनभर के लिए ऋणी हो गया था, किंतु दूसरा मन एकलव्य के लिए द्रवित था। वह जानता था, यदि एकलव्य ने अपने गुरु की माँग पूर्ण कर दी तो वह फिर कभी बाण नहीं चला पाएगा।

एकलव्य ने अपनी गर्दन झुका ली ताकि कोई उसके अश्रुपूरित नेत्र न देख सके। वह द्रोण के निकट आया और उनके सामने घुटने टेककर बैठ गया और सिर उठाकर अपने गुरु को देखा। फिर उसने अपने बाएँ हाथ से कमर में लटका छुरा निकाला तथा अगले ही पल उसके दाहिने हाथ का अँगूठा कटकर धरती पर लुढ़क गया। धनुर्धर एकलव्य के रक्त की बूँदें द्रोण के पैरों और श्वेत वस्त्रों पर छिटक गईं। एकलव्य ने द्रोण को अंतिम बार प्रणाम किया और फिर कभी न लौटने के लिए वहाँ से चला गया।

क्या मेरे पिता पर लगे, निर्दोष एकलव्य के रक्त के वे दाग़ कभी धुल पाएँगे? क्या संसार द्रोणाचार्य को उनके इस नृशंस कृत्य के लिए कभी क्षमा कर पाएगा? कम से कम मैं तो नहीं कर सकूँगा!

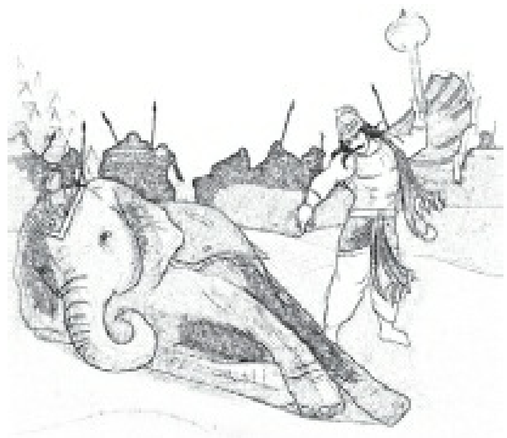

7

द्रोणाचार्य रात्रि में सोने से पहले कभी—कभी मुझसे बात किया करते थे।

"पुत्र अश्वत्थ, मैं चाहता हूँ कि तुम शीघ्र ही अपनी शिक्षा पूर्ण कर लो।"

"जी, पिताजी! मैं प्रयास कर रहा हूँ कि आपके दिए ज्ञान को शीघ्रातिशीघ्र आत्मसात कर लूँ। क्या आप किसी विशेष बात से चिंतित हैं?" मैंने पूछा।

"नहीं... नहीं... ऐसा कुछ नहीं है, पुत्र। अच्छा एक बात बताओ।"

"पूछिए पिताजी!"

"यदि कोई मित्र या निकट संबंधी तुम्हारा अपमान कर दे तो तुम क्या करोगे? उससे बदला लोगे या फिर उसे क्षमा कर दोगे... क्या करोगे?" द्रोण ने मुझसे पूछा।

"पिताजी, आपने मुझे अस्त्र—शस्त्र की शिक्षा इसलिए दी है कि मैं आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग कर सकूँ। क्षत्रिय धर्म में अपमान का प्रतिशोध अपमान से लिया जाना ही श्रेयस्कर माना गया है, किंतु मानव—धर्म अपमान के घाव को क्षमा के मरहम से भरना

बेहतर मानता है। मैं युद्ध—कौशल में निपुण अवश्य हूँ किंतु मेरा मन मुझे मानव—धर्म निभाने को कहता है। इसलिए, मुझे दूसरा विकल्प ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है क्योंकि क्षमादान से न केवल प्रतिशोध का भाव सदा के लिए शांत हो जाता है, अपितु यह आत्मोत्थान का भी श्रेष्ठ मार्ग है।"

"उत्तम!" द्रोण ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "मुझे तुम्हारा उत्तर पसंद आया। अच्छा पुत्र, अब सो जाओ!"

मैं उस समय समझ नहीं सका कि मेरे पिता के मन में क्या चल रहा था।

दो दिन बाद, द्रोणाचार्य ने सब शिष्यों को अपने पास बुलाया।

"तुम लोगों की शिक्षा अब पूर्ण हो चुकी है। मेरे पास जो भी ज्ञान था, मैंने वह सब तुम्हें दे दिया है। अब तुम लोग राजमहल लौटने की तैयारी कर लो।"

"गुरुदेव!" द्रोण के प्रिय शिष्य अर्जुन ने कहा, "आपको गुरु दक्षिणा दिए बिना हम कैसे जा सकते हैं? कृपया आज्ञा करें।"

द्रोण ने अर्जुन की बात सुनी तो अपनी प्रसन्नता को हृदय में रोक न सके। उनका चेहरा ऐसे खिल उठा मानो उन्हें इस क्षण की वर्षों से प्रतीक्षा थी।

"प्रिय अर्जुन, मुझे तुमसे यही अपेक्षा थी," द्रोण ने दूर क्षितिज की ओर देखते हुए कहा। "तुमने पंचाल नरेश द्रुपद का नाम तो सुना ही होगा। मैं चाहता हूँ कि तुम पंचाल राज्य पर आक्रमण करो और द्रुपद को बंदी बनाकर मेरे पास ले आओ!"

गुरु द्वारा माँगी गई दक्षिणा सुनकर सब राजकुमार स्तब्ध रह गए। द्रुपद ने अपने दरबार जिस समय मेरे पिता का अपमान किया था, मैं उस समय बालक था और मुझे भी उस घटना के विषय में नहीं पता था। इतने वर्षों में किसी ने द्रोण के मुख से द्रुपद का नाम नहीं सुना था, फिर सहसा गुरुदेव के मन में द्रुपद को बंदी बनाने का विचार क्यों आया? द्रोण का द्रुपद से क्या संबंध था? सबके मन में कौतूहल जाग गया परंतु द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों को गुरु के आदेश का औचित्य पूछना नहीं सिखाया था। अपने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करने के अतिरिक्त शिष्यों के पास कोई विकल्प नहीं था। द्रुपद वाली घटना से अंजान होने के बावजूद, मैं देख रहा था कि मेरे पिता द्रोण द्वारा कुटिल एवं भीषण गुरु-दक्षिणा माँगने का नृशंस खेल अभी समाप्त नहीं हुआ था।

पंचाल नरेश द्रुपद के दरबार में हुए अपमान के दंश का घाव पक चुका था। द्रोणाचार्य ने इतने वर्षों तक मन में जल रही प्रतिशोध की आग को बुझने नहीं दिया। वर्षों पहले कुएँ में से कुरु राजकुमारों की गेंद निकालकर जो बिसात द्रोण ने बिछाई थी, आज उस पर उन्होंने अपने मोहरे आगे बढ़ा दिए थे। दुर्योधन और अर्जुन के नेतृत्व में पांडवों व कौरवों ने मिलकर द्रुपद पर आक्रमण कर दिया और देखते-देखते द्रुपद की सेना में हाहाकार मच गया। बहुत ही कम समय में, अर्जुन ने द्रुपद के धनुष बाण काट डाले और उसे पकड़कर बंदी बना लिया।

“तुम कौन हो? इस तरह अचानक मुझ पर आक्रमण करने और मुझे बंदी बनाने का क्या प्रयोजन है?” बेड़ियों में जकड़े द्रुपद ने अर्जुन से पूछा।

“मैं पांडव राजकुमार अर्जुन हूँ। मेरी आपसे कोई शत्रुता नहीं है। मैं केवल अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। उन्होंने मुझे आपको बंदी बनाकर लाने का आदेश दिया है।”

“कौन हैं तुम्हारे गुरु और वह मुझे बंदी क्यों बनाना चाहते हैं?” द्रुपद ने प्रश्न किया।

“मेरे गुरु का नाम द्रोण है।” अर्जुन ने गर्व से कहा, “उनकी आपके साथ क्या शत्रुता है, मुझे न तो इसकी जानकारी है और न ही यह जानने में मेरी कोई रुचि है। उनका शिष्य होने के नाते मुझे केवल उनकी आज्ञा का पालन करना है। मेरी आपसे विनती है कि आप कृपया बिना विरोध किए मेरे साथ चलिए।”

द्रोण का नाम सुनते ही द्रुपद के पैरों के नीचे से धरती सरक गई। अनेक वर्ष पूर्व, अपने दरबार में द्रोण के साथ किया दुर्व्यवहार उसे स्मरण हो आया। काल ने अपना चक्र पूरा कर लिया था और अब बाज़ी द्रोण के हाथ में थी। द्रुपद को विश्वास था कि द्रोण उसे केवल अपमानित करना चाहता था क्योंकि यदि द्रुपद की हत्या करनी होती तो अर्जुन ने यह कार्य बहुत पहले कर दिया होता।

द्रुपद कुछ पल अर्जुन को देखता रहा। वह अर्जुन के साहस एवं युद्ध—कौशल से अत्यधिक प्रभावित था। “काश, अर्जुन के समान, मेरा भी एक पुत्र होता!” द्रुपद के मन में विचार उठा।

कुछ ही देर में, द्रोण के आज्ञाकारी शिष्यों ने द्रुपद को बंदी बनाकर द्रोण के समक्ष प्रस्तुत कर दिया।

दृश्य बदल चुका था। अब द्रोण सिर उठाकर खड़े थे और द्रुपद की पलकें लज्जा से इतनी भारी हो गईं थीं कि वह दृष्टि उठाकर द्रोण को देखने का साहस नहीं जुटा पा रहा था।

“याद है द्रुपद, कुछ वर्ष पूर्व तुमने मुझे भिक्षु कहकर संबोधित किया था? अब बताओ, भिक्षु कौन है?” द्रोण ने कटाक्ष किया।

द्रुपद का सिर अब भी झुका हुआ था और उसकी दृष्टि द्रोण के पैरों पर टिकी हुई थी। वह सोच रहा था कि शायद जल्द ही उसे उन पैरों पर गिरकर द्रोण से क्षमा की भीख माँगनी पड़ेगी।

“युद्ध में मेरी विजय हुई है,” द्रोण ने बोलना जारी रखा, “तुम्हारा राज्य, तुम्हारी संपत्ति, तुम्हारा वैभव और यहाँ तक कि तुम्हारा जीवन भी अब मेरे अधीन है। मैं चाहूँ तो शेष जीवन तुम्हें अपना दास बनाकर अपमानित कर सकता हूँ, किंतु मैं तुम्हारी तरह अहं के वश होकर, अपने ब्राह्मणत्व को कलंकित नहीं करना चाहता। मुझे पता है कि अपमान द्वारा अपमान का

प्रतिकार बहुत सरल है, किंतु मनुष्य का धर्म यह है कि अपमान के घाव को क्षमा के मरहम से भरने का प्रयत्न करे क्योंकि क्षमा से न केवल प्रतिशोध की अग्नि शांत हो जाती है, अपितु यही आत्मोत्थान का एकमात्र और श्रेष्ठ मार्ग है।”

अपने पिता का उत्तर सुनकर मैं ठिठक गया। दो दिन पूर्व हमारे बीच जो वार्तालाप हुआ था, उसकी जड़ें मुझे अब दिखाई पड़ रही थीं। मेरे पिता मुझे देखकर मुस्करा रहे थे।

“तुम्हें याद होगा द्रुपद,” द्रोण की बात अभी समाप्त नहीं हुई थी, “तुमने स्वयं कहा था कि मित्रता बराबर वालों में होती है। आज तुम्हारे पास कुछ नहीं है क्योंकि तुम्हारा राज्य अब मेरा है। परंतु मैं तुमसे वर्षों पुरानी मित्रता तोड़ना नहीं चाहता। इसलिए मैं न केवल तुम्हें क्षमा कर रहा हूँ, अपितु तुम्हारी ही बात को महत्त्व देते हुए पंचाल राज्य का, जो अब पूरी तरह मेरे अधीन है, आधा भाग तुम्हें लौटाता हूँ! आज से तुम गंगा के दक्षिणी भाग में राज्य करोगे और गंगा के उत्तरी भाग पर मेरे आधिपत्य होगा। इस बराबरी के चलते अब हम फिर से मित्र हो गए हैं।”

यह सुनते ही अर्जुन ने आगे बढ़कर द्रुपद की बे़ड़ियाँ खोल दीं और द्रोण ने द्रुपद को गले लगा लिया।

अपने पिता के स्वभाव में इतनी विषमताएँ देखकर मैं दंग था। कोई व्यक्ति क्रोध, क्षमा और छल में एक साथ इतना पारंगत कैसे हो सकता है? इस घटना से द्रोण के अपमान का घाव तो भर गया लेकिन द्रोण के हाथों हुई पराजय ने राजा द्रुपद के मन में अमर्ष का नया बीज बो दिया था।

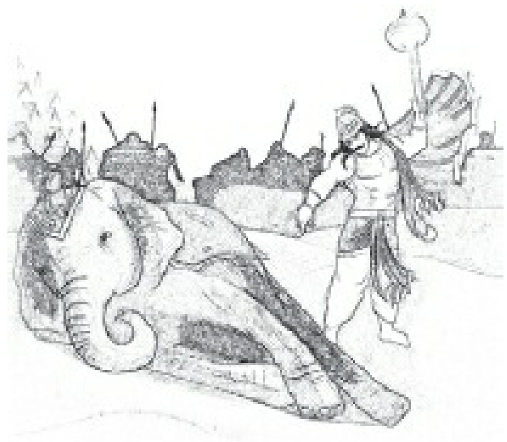

8

कौरवों और पांडवों की शिक्षा संपन्न हो चुकी थी। द्रोणाचार्य ने राजा धृतराष्ट्र से कहा, "महाराज, मैं चाहता हूँ कि इतने वर्ष मेरे पास रहकर इन राजकुमारों ने जो अस्त्र-विद्या मुझसे सीखी है, उसका कौशल सबके सामने प्रदर्शित किया जाए।" सभी को द्रोण का सुझाव अच्छा लगा।

राजाज्ञा से नगर में उचित स्थान देखकर रंगभूमि का निर्माण किया गया। नियत दिवस पर समूचा हस्तिनापुर रंगभूमि में राजकुमारों का रण-कौशल देखने के लिए एकत्रित हो गया। राजा धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, मेरे पिता द्रोणाचार्य, मामा कृपाचार्य तथा अन्य सब लोगों ने अपने-अपने आसन ग्रहण कर लिए। राज-परिवार की महिलाओं और दासियों के लिए बैठने की अलग व्यवस्था थी। कौरव और पांडव राजकुमारों ने प्रवेश किया तो लोग उत्साहित नज़रों से उन्हें देखने लगे।

कुछ ही समय में, कौशल-प्रदर्शन आरंभ हो गया। अपने राजकुमारों की दक्षता देखकर धृतराष्ट्र और भीष्म आदि भाव-विभोर हो उठे। उनके कौशल को देखकर न केवल राज-परिवार को अपितु समस्त नगरवासियों को यह विश्वास हो गया कि ऐसे श्रेष्ठ एवं वीर

योद्धाओं के हाथों में हस्तिनापुर की सीमाएँ पूर्णतः सुरक्षित थीं। हालांकि मैंने भी अस्त्र-विद्या ग्रहण की थी किंतु नियमानुसार रंगभूमि में कौशल प्रदर्शन का विशेषाधिकार केवल राजकुमारों का था, इसलिए ब्राह्मण-पुत्र होने के नाते मुझे यह अवसर नहीं मिल सका। अर्जुन के अतिरिक्त, सभी ने अपना-अपना कौशल दिखा दिया था। अंत में, मेरे पिता ने गर्व से अर्जुन की ओर संकेत करते हुए घोषणा की। "अब मैं अपने सर्वप्रिय शिष्य अर्जुन को युद्ध-कौशल के प्रदर्शन हेतु रंगभूमि में आमंत्रित करता हूँ।"

मेरे विचार से राजा एवं प्रजा के समक्ष खुले में प्रत्यक्ष रूप से राजकुमारों के बीच भेद-भाव करना और किसी एक शिष्य को अन्य से बेहतर बताना एक गुरु के लिए सर्वथा अनुचित था। मुझे नहीं पता कि ऐसी बातें, मेरे पिता के मुख से अनजाने में निकल जाती थीं अथवा वे इस तरह के कार्य किसी सोची-समझी रणनीति के अंतर्गत किया करते थे। जो भी हो, परंतु मुझे उनका यह आचरण ठीक नहीं लगा। मैंने बाद में महसूस किया कि कौरव-ज्येष्ठ दुर्योधन के मन भी यही बात उठ रही थी क्योंकि द्रोण द्वारा अर्जुन की प्रशंसा सुनते ही दुर्योधन के चेहरे का रंग बदल गया और उसने गर्दन को ज़ोर से झटककर पास बैठे दुश्शासन के कान में कुछ कहा।

अर्जुन ने रंगभूमि में उतरते ही अपना रंग जमा दिया। उसने सबसे पहले अपनी धनुर्विद्या का शानदार प्रदर्शन किया तथा अपने अचूक निशाने से लोगों का मन मोह लिया। उसके बाद, अर्जुन ने आग्नेयास्त्र का प्रयोग करके अग्नि उत्पन्न की और जब लोग घबराकर चिल्लाने लगे तो वरुणास्त्र चलाकर जल-वर्षा कर दी। वर्षा से भीगे लोग अभी ठीक से बैठ भी नहीं पाए थे कि अर्जुन ने वायवास्त्र का प्रयोग किया जिससे रंगभूमि में भीषण आँधी चलने लगी। वह धीरे-धीरे इतनी तेज़ हो गई कि हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। अर्जुन ने देखा कि आँधी से घबराकर लोग रंगभूमि से भागने लगे तो उसने पर्जन्यास्त्र चलाकर बादल पैदा कर दिए। आकाश में बादलों के छा जाने से आँधी तत्काल थम गई। इसके बाद, अर्जुन ने ऐसे अनेक विचित्र अस्त्रों के प्रयोग से वहाँ बैठे लोगों को अचंभित कर दिया। रंगभूमि लोगों की तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज रही थी। प्रदर्शन से पूर्व द्रोण को अर्जुन की प्रशंसा करनी चाहिए थी अथवा नहीं, इस बात पर विवाद हो सकता था, किंतु अर्जुन द्वारा अपनी धनुर्विद्या के प्रदर्शन के बाद इस बात में किसी तरह के विवाद की कोई संभावना नहीं थी कि निस्संदेह, अर्जुन एक विलक्षण धनुर्धर था और हम सबमें श्रेष्ठ भी! इसी कारण से वह मेरे पिता का सबसे प्रिय शिष्य भी था। अंत समय तक, अर्जुन के प्रति उनका स्नेह कम नहीं हुआ।

"शाबाश अर्जुन!" द्रोण ने हर्षपूर्वक कहा। "मुझे तुम पर गर्व है। निस्संदेह, इस संसार में तुमसे श्रेष्ठ धनुर्धर कोई नहीं है।" यह सुनते ही कुरु राजकुमारों के चेहरों पर अवसाद के भाव उभर आए। दुर्योधन ने फिर से दुश्शासन के कान में कुछ कहा। मुझे पता है कि उसने दुश्शासन से क्या कहा होगा! मेरी तरह, सबको आचार्य द्रोण के मुख से वह बात सुनकर किसी की याद आ गई जो निस्संदेह अर्जुन से अधिक नहीं, तो कम से कम उसके समान

प्रतिभावान अवश्य था। काश, उस दिन रंगभूमि में एकलव्य होता! मेरे पिता ने गुरु-दक्षिणा के नाम पर उसे सदा के लिए अक्षम बेशक कर दिया, किंतु वे हम लोगों के मन से एकलव्य की छवि को धूमिल नहीं कर पाए! एकलव्य को याद करके मेरे मन में आज भी उसके लिए करुणा एवं अपने पिता के लिए दुर्भावना के भाव जाग्रत हो जाते हैं। एकलव्य अपने दाहिने हाथ के अँगूठे के बिना, धनुर्धर बनना तो दूर, पता नहीं नित-प्रतिदिन के कार्य भी ठीक से कर पाता होगा अथवा नहीं। जो भी हो, मेरा मन आज भी एकलव्य को ही अर्जुन से श्रेष्ठ मानता है!

दर्शक अब भी अर्जुन के लिए तालियाँ बजा रहे थे। तभी तालियों की गूँज को चीरती हुई एक आवाज़ आई।

“रुकिए!” उस गरजदार आवाज़ को सुनकर लोग शांत हो गए और पूर्व दिशा की ओर देखने लगे जहाँ से वह आवाज़ आई थी। मैं उस समय अपने पिता के समीप खड़ा था। हमने देखा कि लंबी-चौड़ी एवं बलिष्ठ काया वाला एक तेजस्वी युवक हाथ में धनुष और बाण लिए रंगभूमि के भीतर चला आ रहा था। उसके तन पर बँधा कवच और कानों के कुंडल स्वर्ण की भांति चमक रहे थे। उसकी चलने का अंदाज़ राजसी था जिससे पता लगता था कि वह कोई साधारण युवक नहीं था। हालांकि उसके तन के वस्त्र देखने से लग रहा था कि वह किसी उच्च कुल का नहीं है। उसके असाधारण व्यक्तित्व तथा सामान्य वस्त्रों से एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न हो रहा था। इसी बीच, उसने रंगभूमि में खड़े अर्जुन के निकट पहुँचकर, ऊपर देखा और राजा धृतराष्ट्र को प्रणाम किया।

“तुम कौन हो युवक? इस तरह रंगभूमि के बीच में क्यों आए हो?” द्रोण ने पूछा।

“आचार्य, मेरा नाम कर्ण है। इस तरह प्रतियोगिता के बीच में आने के लिए क्षमा चाहता हूँ। यदि आपने अर्जुन को संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर न कहा होता, तो मैं यह धृष्टता कभी नहीं करता। मैं रंगभूमि में अर्जुन को चुनौती देता हूँ। यदि वह मुझे धनुर्विद्या में परास्त कर देगा तो मैं हस्तिनापुर छोड़कर सदा के लिए चला जाऊँगा।”

कर्ण के स्वर में आत्म-विश्वास के अतिरिक्त एक योद्धा का साहस भी झलक रहा था। उसकी बात सुनकर राज-परिवार के सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। कर्ण की बात सुनकर दुर्योधन, जो सदा से पांडवों को नीचा दिखाने की ताक में रहता था, अचानक मुस्कराने लगा मानो उसने कोई हारी हुई बाजी जीत ली हो। कर्ण का पौरुष और उसकी निर्भीकता देखकर दुर्योधन का मन किसी अज्ञात अभिलाषा से हर्षित हो गया। वह इस बात से प्रसन्न था हस्तिनापुर में ही कि पांडवों को टक्कर देने वाला भी कोई मौजूद था।

कर्ण की बात सुनकर अर्जुन भी उसे अचरज से देखने लगा। मैंने द्रोणाचार्य की ओर देखा तो वे बहुत ध्यान से कर्ण का स्वर्ण कवच देख रहे थे। उनके मुख पर चिंता का वही भाव उभर आया था जो एकलव्य को देखकर उभरा था। मैं समझ गया कि उन्हें कर्ण में एकलव्य की छवि दिखाई दे रही थी। द्रोण ने एकलव्य को तो निर्ममता से अर्जुन के मार्ग से

हटा दिया था, किंतु वे कर्ण से न तो गुरु दक्षिणा माँगने के अधिकारी थे और न ही उन्हें कर्ण द्वारा अर्जुन को दी गई खुली चुनौती की कोई काट सूझ रही थी। उनकी अनुभवी दृष्टि ने तत्काल भाँप लिया कि उनके सबसे प्रिय शिष्य अर्जुन का मार्ग अब भी पूरी तरह निष्कंटक नहीं हुआ था। मेरे पिता ने अचानक घूमकर नीतिनिपुण कृप को देखा। उन्होंने कृपाचार्य को आँखों से क्या संकेत दिया, मैं उसे समझ नहीं सका, किंतु मेरे मामा कृपाचार्य ने द्रोण की मंशा जान ली थी। अगले ही पल द्रोण पीछे हट गए और उनका स्थान कृपाचार्य ने ले लिया।

"प्रिय कर्ण, हमें यह देखकर बहुत प्रसन्नता हो रही है कि हमारे राज्य में अर्जुन को चुनौती देने वाला भी कोई है। परंतु अपना कौशल दिखाने से पूर्व तुम्हें अपने कुल का परिचय देना होगा। रंगभूमि में तुम्हारा सामना कुरु वंश के राजकुमार से होने जा रहा है। तुम्हें शायद पता न हो, किंतु राजकुमार किसी अज्ञात या निम्न कुल के व्यक्ति के साथ मुक़ाबला नहीं करते। इसलिए आगे आओ और इस रंगभूमि में एकत्रित लोगों को अपने कुल का परिचय दो।"

मैं अपने पिता की इस नई चाल से स्तब्ध रह गया। उन्होंने कर्ण के वस्त्रों को देखकर यह भाँप लिया था कि वह किसी निम्न कुल का होगा। मेरे लिए यह आज भी रहस्य है कि मेरे पिता ने अर्जुन के लिए इतने अपराध क्यों किए!

कृपाचार्य की बात सुनकर अचानक कर्ण का मुख कांतिहीन हो गया। उसका श्रीहीन चेहरा देखकर दुर्योधन तुरंत समझ गया कि निश्चित ही कुल के संदर्भ में कर्ण की स्थिति शोचनीय थी, और इसीलिए कर्ण निरुत्साहित दिखाई दे रहा था। कर्ण की हताशा, दुर्योधन की भावी महत्त्वाकांक्षा का गला घोंट रही थी। दुर्योधन के लिए इस घुटन का शीघ्र निदान करना अनिवार्य हो गया था।

इससे पहले कि कर्ण कुछ कह पाता, दुर्योधन ने कृपाचार्य को संबोधित करते हुए कहा, "आचार्य, यदि अर्जुन से युद्ध करने के लिए कर्ण का राजवंशी होना अनिवार्य है, तो मैं कर्ण को अपना अंग राज्य प्रदान करता हूँ और इसे वहाँ का राजा नियुक्त करता हूँ। आज से, कर्ण मेरे मित्र हैं तथा ये अंगराज के नाम से जाने जाएँगे!"

द्रोणाचार्य के इशारे पर आचार्य कृप ने कर्ण के जिस वंश-संबंधी घाव को कुरेदकर अपमान का स्राव निकालने का प्रयास किया था, दुर्योधन ने उस घाव को अपनी उदारता से न केवल ढँक दिया अपितु अपने मधुर वचनों से उस पर मैत्री का मरहम भी लगा दिया। कर्ण ने दुर्योधन की ओर देखा। मैत्री की भाषा, चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा सांकेतिक, अत्यंत सशक्त होती है तथा उसमें से सहज ही प्रेम एवं विश्वास का जन्म हो जाता है। कर्ण ने दुर्योधन की भाषा को सहजता से ग्रहण कर लिया। दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्कराए। कौरव पक्ष की ओर से जयघोष होने लगा, "महावीर कर्ण की जय! अंगराज कर्ण की जय!"

इस बीच, मैंने देखा कि महाराज धृतराष्ट्र का प्रमुख सारथी अधिरथ धीरे-धीरे चलता हुआ रंगभूमि में आ गया। मैं अभी यह सोच ही रहा था कि अधिरथ का रंगभूमि में क्या काम,

कि तभी अधिरथ कर्ण के समीप आकर खड़ा हो गया। उसे देखते ही कर्ण ने अपना धनुष-बाण धरती पर रख दिया और झुककर अधिरथ के चरण छू लिए। सब लोग यह दृश्य देखकर अचरज में पड़ गए। “महाराज की जय हो!” अधिरथ ने कहा, “महाराज, कर्ण मेरा पुत्र है! यह अत्यंत प्रतिभाशाली है और मुझे इस पर गर्व है।”

यह सुनते ही पांडव खेमे से भीम की गर्जना सुनाई दी, “सूतपुत्र! सूतपुत्र कर्ण!” भीम का यह संबोधन सुनकर दुर्योधन ने तुरंत पलटवार करते हुए कहा, “भीम, तुम स्वयं महावीर हो, इसलिए तुम्हें कर्ण जैसे वीर के विषय में ऐसी बात करना शोभा नहीं देता। बल और साहस के अतिरिक्त क्षत्रियों के यश का कोई अन्य मापदंड नहीं हो सकता। शूरवीरों और नदियों का उद्गम उतना सहज नहीं होता, जितना दिखाई पड़ता है। इस तेजस्वी और सर्वगुण संपन्न कर्ण की ओर ध्यान से देखो! क्या यह तुम्हें निम्न कुल का वंशज लगता है? मुझे विश्वास है कि कर्ण अपने बाहुबल और मेरे सहयोग से अंग देश तो क्या, समस्त पृथ्वी पर शासन कर सकता है!”

जहाँ एक ओर दुर्योधन ने कर्ण को अंग देश का राज्य दान में देकर अपने लिए राजनीतिक मैत्री स्थापित कर ली थी, वहीं दूसरी ओर दान में मिले राज्य को स्वीकार करके कर्ण ने भी अपने मन में सूतपुत्र होने की कुंठा का दमन कर लिया था। सूर्यास्त होने वाला था। रंगभूमि के कार्यक्रम को आगे बढ़ाना संभव नहीं था।

कर्ण ने गहरी श्वास ली और फिर उसकी दृष्टि अनायास ही अस्त होते सूर्य की ओर चली गई। वह, न जाने क्यों, बहुत देर तक पश्चिम दिशा में क्षितिज की ओर देखता रहा। कर्ण जब भी हस्तिनापुर आता था तो मैंने अनेक बार उसे नदी-तट पर सूर्योदय एवं सूर्यास्त को तकते हुए पाया। मैं इस रहस्य पर से भी बाद में पर्दा उठाऊँगा कि उसे सूर्य इतना आकर्षित क्यों करता था।

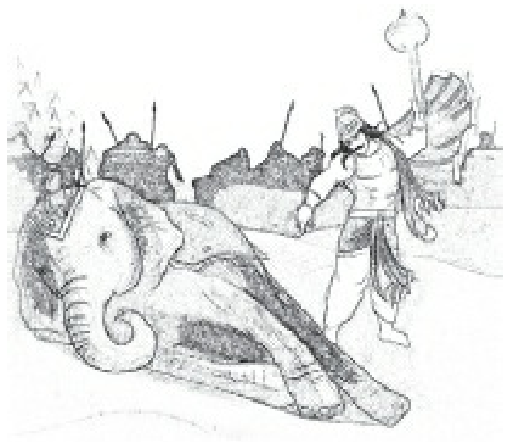

9

यहाँ से आगे, इस कथा में बहुत-से रोचक मोड़ आएँगे, इसलिए, आपको कुरु राजपरिवार की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों एवं घटनाओं के विषय में बताना अनिवार्य है, जिससे कि आप कथा को सही परिप्रेक्ष्य से आत्मसात कर पाएँ।

कुरुवंश का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते, हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर धृतराष्ट्र का ही अधिकार था, किंतु वह अत्यंत बलवान होने के अतिरिक्त जन्म से नेत्रहीन था। इस कारण, राज्याभिषेक का जब समय आया तो नेत्रहीन धृतराष्ट्र राजनीति के नियमों एवं सिद्धांतों से मात खा गया और उसकी विकलांगता उसके मार्ग की बाधा बन गई। फलस्वरूप, धृतराष्ट्र के छोटे भाई पांडु को हस्तिनापुर का राजा घोषित कर दिया गया।

एक बार पांडु आखेट पर गया हुआ था। वहाँ उसे सरोवर के निकट कुछ आवाज़ आई तो उसे जंगली पशु की आवाज़ समझकर पांडु ने शब्द-भेदी बाण चला दिया। उसे बाद में पता लगा कि वह बाण भूल से किंदम ऋषि को लग गया, जो उस समय अपनी पत्नी के साथ रति-क्रिया में संलग्न थे। बाण लगने से किंदम मुनि की मृत्यु हो गई। पांडु ने मुनि की हत्या का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से हस्तिनापुर राज्य का त्याग कर दिया और अपनी दो

पत्नियों कुंती और माद्री के साथ संन्यास लेकर वन में चला गया। कुछ समय बाद, यह समाचार मिला कि वन में पांडु की मृत्यु हो गई और माद्री उसकी चिता के साथ सती हो गई। वन में रहते हुए, पांडु के अपनी दोनों पत्नियों, कुंती और माद्री से पाँच पुत्र हुए थे, जिन्हें लेकर बाद में कुंती हस्तिनापुर लौट आई।

अनुज पांडु की मृत्यु के बाद, नेत्रहीन धृतराष्ट्र को संयोगवश हस्तिनापुर का सिंहासन प्राप्त हो गया। अकस्मात राजा बने धृतराष्ट्र को राजसिंहासन और राजमुकुट से ऐसी आसक्ति हुई कि वह रात्रि को सोते समय भी मुकुट पहनने लगा। उसे हर पल यही भय सताता था कि कहीं कोई उसका मुकुट छीन न ले। नियति के विचित्र संयोग तथा अत्यंत कठिनाई से मिले राज्याधिकार को वह किसी क़ीमत पर गँवाना नहीं चाहता था। नेत्रहीनता ने उसके अंदर व्याप्त इस भय को और बढ़ा दिया। धृतराष्ट्र का जब विवाह हुआ तो मंत्रीगण एवं प्रजा को यह सोचकर राहत मिली कि धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी, अपने नेत्रहीन पति के जीवन को दिशा दे सकेगी और हस्तिनापुर का राज-काज बेहतर ढंग से चल सकेगा। परंतु नियति ने यहाँ भी धृतराष्ट्र तथा हस्तिनापुर के साथ विचित्र मज़ाक किया।

गांधारी को यह स्वीकार नहीं था कि उसका पति नेत्रहीनता का अभिशाप सहन करता रहे और वह स्वयं राजसी सुख भोगती रहे। इसलिए, उसने अपने पति के दुख को साझा करने का अनोखा तरीक़ा निकाला। गांधारी ने यह प्रण लिया कि प्रकृति ने जिस सुख से उसके पति को वंचित किया है, उसका भोग वह स्वयं भी नहीं करेगी! उसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली और आजीवन अपने पति की तरह दृष्टिहीन रहने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

मेरा यह मानना है कि गांधारी, यदि चाहती तो, अपने नेत्रहीन पति की आँखें बनकर जीवनभर उसका मार्गदर्शन कर सकती थी तथा राज्य के काम-काज को सुचारू ढंग से चलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती थी, परंतु उसने ऐसा नहीं किया। आँखों पर पट्टी बाँधकर गांधारी ने राज-काज में अपने पति का कितना साथ दिया, इसका आकलन कर पाना कठिन है। समय बीतता गया और इस बीच, गांधारी और धृतराष्ट्र ने सौ पुत्रों एवं दुश्शला नाम की एक पुत्री को जन्म दिया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में, जिन्हें कौरव कहा जाता है, दुर्योधन ज्येष्ठ था।

पांडव और कौरव एक साथ बड़े होने लगे और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी साथ में होने लगी। उसके बाद, उनके और अपने बचपन की कथा मैं आपको पहले सुना चुका हूँ। इस बीच, काफ़ी समय बीत गया। हम लोग युवा भी हो गए।

इधर, मेरे पिता द्रोण ने द्रुपद को आधा राज्य लौटाकर उससे फिर से मित्रता कर ली थी, किंतु उन दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ भिन्न थीं। मेरे पिता द्रोण स्वभाव से ब्राह्मण थे। क्षमाशीलता के महत्त्व और उसकी शक्ति को समझते थे। इसके विपरीत, द्रुपद राजा था, स्वभाव से क्षत्रिय था और द्रोण के हाथों अपमानित हो चुका था। द्रोण ने जो राज्य का आधा

भाग द्रुपद को अच्छे मन से मित्रता के कारण लौटाया था, उस राज्य को द्रुपद ने कलुषित मन से भिक्षा के रूप में स्वीकार किया था! द्रुपद के दरबार में हुए अपमान को मेरे पिता ने समय रहते भुला दिया था, परंतु द्रोण के हाथों हुए अपमान का घूँट, द्रुपद के गले में अटका रहा गया। उसने एक हाथ से द्रोण से मित्रता तो कर ली, किंतु उसका दूसरा हाथ उनके अभिमान का गला घोंटने के लिए छटपटाने लगा। परंतु यह भी सत्य था कि कौरव तथा पांडव जैसे महावीर शिष्यों के रहते, द्रुपद में इतना साहस नहीं था कि वह अपने दम पर अकेले द्रोण से बदला ले सकता। अर्जुन द्वारा द्रुपद को बंदी बनाते समय भी, द्रुपद के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई थी अर्जुन के समान उसका भी कोई वीर पुत्र होता, तो वह द्रोण से उसके अपमान का प्रतिशोध ले सकता था। समय बीतने के साथ, द्रुपद के गले में अटका अपमान का घूँट कड़वा होता गया तथा साथ ही, उसके मन में द्रोण से बदला लेने हेतु एक वीर संतान की कामना बलवती होती गई।

द्रुपद की कोई संतान नहीं थी, इसलिए उसने संतान-प्राप्ति के लिए पुत्रकामेष्टि यज्ञ करने का निर्णय किया। बहुत प्रयास करने के बाद, द्रुपद ने याज नाम के एक गुणी ब्राह्मण को यज्ञ करने के लिए तैयार कर लिया। शीघ्र ही, यज्ञ संपन्न हो गया, जिसके फलस्वरूप अग्निकुंड में से एक दिव्य बालक और कृष्ण वर्ण की एक अत्यंत सुंदर बालिका का जन्म हुआ। उस बालक की त्वचा का रंग धधकती अग्नि के समान था और उसने जन्म लेते ही भीषण गर्जना आरंभ कर दी। ब्राह्मणों ने दोनों बच्चों के रूप और स्वभाव को ध्यान से देखा और कहा, “यह बालक स्वभाव से बड़ा धृष्ट लगता है और इसकी उत्पत्ति अग्नि की द्युति से हुई है, इसलिए इसका नाम ‘धृष्टद्युम्न’ रखना उचित होगा और यह बालिका अपने कृष्ण वर्ण के कारण ‘कृष्णा’ कहलाएगी।”

एक दिन द्रोणाचार्य घर लौटे तो उनके चेहरे पर चिंता व्याप्त थी। मैंने उनसे कारण पूछा तो उन्होंने कहा, “द्रुपद के यहाँ एक पुत्र और एक पुत्री ने जन्म लिया है। द्रुपद की पुत्री के लिए ज्योतिषियों ने कहा है कि उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। उसके भाग्य में राज्य का सुख तो है, परंतु वह भारतवर्ष के इतिहास में होने वाले सबसे भीषण युद्ध का कारण बनेगी।”

“ओह! यह तो अच्छी बात नहीं है, किंतु इस बात से आप व्यग्र क्यों हैं, पिताजी?” मैंने प्रश्न किया।

“प्रिय अश्वत्थ, मेरी चिंता का कारण द्रुपद का पुत्र है!” पिताजी बोले।

“क्यों, पिताजी?”

“ज्योतिषियों ने यह भी भविष्यवाणी की है कि द्रुपद का पुत्र, जिसका नाम उन्होंने धृष्टद्युम्न रखा है, मेरे लिए घातक सिद्ध होगा।” पिताजी ने उत्तर दिया।

“पिताजी, आप चिंता न करें! धृष्टद्युम्न तो अभी नवजात शिशु है। उसे बड़ा होने में समय लगेगा, और फिर मेरे रहते हुए आपके ऊपर कोई संकट आ जाए, तो धिक्कार है मेरे

जीवन को!” मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा।

मैं नहीं जानता कि मेरे ऐसा कहने से मेरे पिता की व्याकुलता कम हुई अथवा नहीं, किंतु उन्होंने मेरे सिर पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरा, और मुझे यह संकेत अवश्य दिया कि उन्हें मेरे सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था।

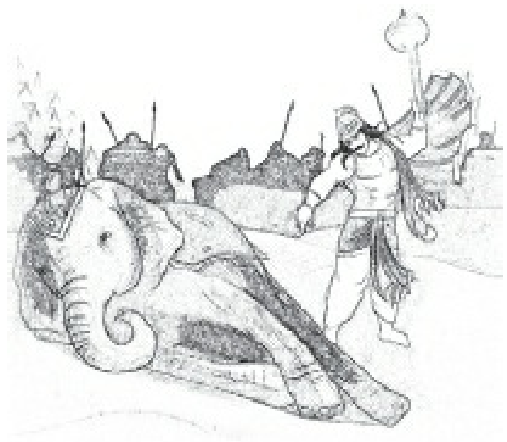

10

सौतेले भाइयों के बीच मधुर संबंध कम ही बन पाते हैं। समय के साथ, पांडवों और कौरवों के बीच भी मतभेद बढ़ने लगे। राजमहल के भीतर चचेरे भाइयों में लड़ना-झगड़ना और वाद-विवाद सामान्य बात हो गई थी। धृतराष्ट्र को दिखाई तो नहीं देता था, किंतु वह मन में जानता था कि पांडु के पाँच पुत्र उसके अपने सौ पुत्रों से अधिक योग्य एवं शक्तिशाली थे। वह हर क्षण, अपने पुत्र दुर्योधन को पांडु-पुत्र भीमसेन से श्रेष्ठ सिद्ध करने के अवसर खोजता रहता था। पांडु का ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र के अपने पुत्र दुर्योधन से बड़ा था, इसलिए धृतराष्ट्र को यह डर भी रहता था कि उसके बाद हस्तिनापुर की राजगद्दी दुर्योधन के स्थान पर पांडु-पुत्र युधिष्ठिर को मिल जाएगी और नियति ने वर्षों पहले जो अन्याय उसके साथ किया था, दोबारा वही अन्याय उसके पुत्र दुर्योधन के साथ दोहराया जाएगा।

क्रोध की तरह लोभ और ईर्ष्या भी व्यक्ति के आचरण को भ्रष्ट कर देते हैं। नेत्रहीन धृतराष्ट्र का दिशाहीन दिमाग़ युधिष्ठिर सहित सभी पांडवों को दुर्योधन के मार्ग से हटाने की कुत्सित योजना बुनता रहता था। उन दिनों राजाओं के पास अपने मार्ग के काँटे हटाने के अनेक तरीक़े हुआ करते थे, किंतु पांडवों को हटाना सरल नहीं था। इसके तीन मुख्य कारण

थे। एक, पांडव शक्तिशाली होने के साथ-साथ अत्यंत चतुर और विवेकशील थे। दूसरा, उन्हें परिवार के समस्त वृद्धजनों का समर्थन एवं स्नेह प्राप्त था। तीसरा, राजपरिवार के सदस्य होने के नाते वे स्वयं भी कुटिल योजनाओं व षड्यंत्रों के नियोजन को भली-भांति पहचानते थे। उन्हें मारने के लिए धृतराष्ट्र को कुछ भिन्न, कुछ ऐसा करने की आवश्यकता थी जो अकस्मात हो जाए और दुर्घटना जैसा लगे!

धृतराष्ट्र की बेचैनी इतनी बढ़ गई कि उसने एक दिन दुर्योधन को अपने मन की बात कह डाली। दुर्योधन को पहले तो अपने नेत्रहीन पिता की बात सुनकर कानों पर विश्वास नहीं हुआ, लेकिन वास्तव में, दुर्योधन भी यही चाहता था। बहुत सोच-विचार करने के बाद दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से कहा, "पिताजी, आप केवल पांडवों को विहार के लिए वारणावत भेज दीजिए। उसके आगे, मैं सब सँभाल लूँगा!"

धृतराष्ट्र ने पांडवों को बुलाया और उनके सामने वारणावत तथा वहाँ लगने वाले मेले की भरपूर प्रशंसा की। उसके बाद, उसने पांडवों को विहार के लिए वारणावत जाने का प्रस्ताव भी दे डाला।

"आपकी इच्छा हमारे लिए आज्ञा है, तातश्री!" युधिष्ठिर के इस वाक्य को सुनकर दुर्योधन और धृतराष्ट्र ऐसे ख़ुश हुए जैसे किसी कृषक ने अनेक वर्षों के दुर्भिक्ष के बाद आकाश में घिरते काले वर्षा मेघ देख लिए हों।

इधर पांडवों ने अपनी माता कुंती के साथ वारणावत जाने की तैयारी कर ली और उधर दुर्योधन ने अपने मंत्री और विश्वास-पात्र पुरोचन को बुलवाया और उसे तुरंत वारणावत जाकर पांडवों के रहने के लिए एक विशेष भवन बनवाने का निर्देश दिया।

"पुरोचन! राल, लकड़ी, तेल, चर्बी और लाख को मिलाकर ऐसा भवन बनवाओ, जो केवल एक चिंगारी लगने से जलकर भस्म हो जाए।" दुर्योधन ने पुरोचन के कान में कहा।

एक बार तो पुरोचन के होश ही उड़ गए किंतु फिर उसे ध्यान आया कि वह दुर्योधन से बात कर रहा था, जो न केवल छल-कपट का पर्याय था अपितु हस्तिनापुर का भावी सम्राट भी था और उसकी इच्छा पर प्रश्न लगाने का अर्थ अपनी जान गँवाना हो सकता था।

"जी, राजकुमार! भवन का निर्माण तो मैं करवा दूँगा, किंतु आग? वह कैसे लगाई जाएगी?" पुरोचन ने पूछा।

"तुम प्रश्न बहुत करते हो, पुरोचन!" दुर्योधन ने मुस्कराते हुए कहा। "सुनो, वारणावत में पांडवों के रहने की व्यवस्था उसी लाक्षागृह में की जाएगी और फिर रात्रि में अवसर पाकर, जब सब लोग सो रहेंगे तो उस शानदार भवन को अग्नि के सुपुर्द कर दिया जाएगा।"

"वाह! यह तो बहुत शानदार योजना है कुमार!" पुरोचन ने आँखें घुमाते हुए कहा। "परंतु, इस कार्य को कौन करेगा?"

“तुम करोगे!” दुर्योधन ने तपाक से उत्तर दिया। “यह कार्य भी तुम्हीं पूर्ण करोगे, प्रिय पुरोचन! ध्यान रहे, तुम्हें इस बात को गुप्त रखना है। कार्य के सफलतापूर्वक पूरा हो जाने पर मैं स्वयं तुम्हें पुरस्कृत करूँगा। जाओ पुरोचन, जल्दी करो... महामंत्री का पद तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है!” पुरोचन की आँखों में चमक आ गई। उसने देखा कि उसके और महामंत्री के पद के बीच अब केवल लाक्षागृह खड़ा था!

“जो आज्ञा, राजकुमार!” पुरोचन ने मुस्कराते हुए दुर्योधन के समक्ष सिर झुकाया और वहाँ से सीधे वारणावत के लिए रवाना हो गया।

धृतराष्ट्र का विवाह जब गांधारी के साथ हुआ तो गांधारी का भाई शकुनि भी हस्तिनापुर में आकर रहने लगा था। शकुनि रिश्ते में दुर्योधन का मामा था, किंतु उसने दुर्योधन को छल, धूर्तता, षड्यंत्र और द्यूत-क्रीड़ा के अतिरिक्त कुछ नहीं सिखाया। शकुनि के हाथ में द्यूत के पाँसे ऐसे रहते थे जैसे किसी भक्त के हाथ में माला के मनके! मुझे आज भी लगता है कि यदि गांधारी के साथ शकुनि न आया होता, अथवा समय रहते उसे गंधार वापस भेज दिया गया होता तो शायद वह सब न होता जो उसके रहते हुआ और फिर अंत समय तक होता ही रहा!

दुर्योधन के कुटिल व ईर्ष्यालु स्वभाव के बावजूद मैं उसका प्रशंसक था क्योंकि वह अत्यंत साहसी तथा उदारचित्त था। यद्यपि, उसके स्वभाव में एक दुर्गुण भी था कि उसके पेट में कोई बात अधिक देर तक पचती नहीं थी याने वह किसी भेद को छिपाकर नहीं रख पाता था। पांडवों की हत्या की योजना की जानकारी पहले केवल तीन लोगों को थी - दुर्योधन, धृतराष्ट्र और पुरोचन। परंतु, बाद में अपनी बुरी आदत के चलते, दुर्योधन ने यह बात अपने दुष्ट मामा शकुनि को भी कह दी।

“बहुत बढ़िया, भांजे! यह तो तुमने कमाल की योजना बना डाली। मेरे साथ रहकर तुमने आख़िर ये सारे हथकंडे सीख ही लिए!” शकुनि ने एक हाथ से दुर्योधन की पीठ थपथपाई और दूसरे हाथ में पकड़े पाँसों को हवा में उछाला और फिर उन्हें लपक लिया।

“जी मामाजी, यह सब आपके आशीर्वाद का परिणाम है!” यह कहकर दुर्योधन मूर्खों की तरह हँसने लगा।

पांडवों के वारणावत जाते समय, उन्हें नगर की सीमा तक छोड़ने का दायित्व धृतराष्ट्र ने मुझे सौंपा। चलते समय, धृतराष्ट्र के अनुज और नीतिज्ञ महामंत्री विदुर ने अचानक हमारे साथ नगर की सीमा तक साथ चलने की इच्छा व्यक्त कर दी। मैं, पिछले दो दिन से, उनके चेहरे पर भय और दुख के मिले-जुले भाव देख रहा था। उन्होंने जब नगर सीमा तक साथ चलने की बात कही तो सबको आश्चर्य हुआ क्योंकि इस प्रकार के विहार पर जाना राजकुमारों के लिए सामान्य बात थी और विदुर ने पहले कभी इस तरह का प्रस्ताव नहीं किया था। मुझे ऐसी अंतर्प्रेरणा हुई कि महात्मा विदुर पांडवों से अवश्य कुछ गुप्त एवं गूढ़ बात कहना चाहते थे, जिसे राजमहल में कहना संभव नहीं था। मैं इस रहस्य को समझने के

लिए आतुर हो गया, किंतु मैंने अपनी उत्सुकता को छिपाए रखा।

शीघ्र ही हम सब हस्तिनापुर की सीमा पर पहुँच गए। नगर के कई अन्य लोग भी पांडवों को विदाई देने साथ में आए थे, इसलिए विदुर को ज्येष्ठ पांडव, युधिष्ठिर से बात करने का अवसर नहीं मिल रहा था। आख़िर, उन्होंने सांकेतिक भाषा में युधिष्ठिर से बात की। विदुर की कही वह बात मुझे आज सैकड़ों साल बाद भी शब्दशः याद है।

विदुर बोले, “वत्स, तुम स्वयं धर्म के अवतार हो और अधर्म की तनिक-सी आहट भी तुम्हें सतर्क कर देती है, फिर भी तुम्हारा शुभचिंतक होने के नाते यह मेरा कर्तव्य है कि मैं तुम्हें किसी अज्ञात स्थान पर जाने से पूर्व, कुछ बातें समझा दूँ। यदि कोई सहसा तुम्हारे प्रति उदार हो जाए तो तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए।” विदुर ने अब तक कोई विशेष बात नहीं कही थी। मैं कुछ और सुनने की प्रतीक्षा कर रहा था।

उसके बाद, विदुर ने आगे कहा, “एक वस्तु ऐसी है जो लोहे की नहीं है, किंतु शरीर को नष्ट कर सकती है। पंच तत्वों में से एक तत्व ऐसा है जो समूचे जंगल, घास-फूस आदि को सरलता से नष्ट कर सकता है, लेकिन बिल में रहने वाले प्राणी, उस तत्व के कोप से बच जाते हैं। अंधे व्यक्ति को मार्ग और दिशाओं का ज्ञान नहीं होता, किंतु जिस मनुष्य की पाँचों इंद्रियाँ उसके वश में हों, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता!” इतना कहकर विदुर शांत हो गए और युधिष्ठिर को स्नेहपूर्वक देखने लगे।

“आप चिंता न करें, तातश्री! मैं आपकी सब बातें भली-भांति समझ गया हूँ!” युधिष्ठिर ने कहा और फिर विदुर को प्रणाम कर पाँचों पांडव भाई वारणावत की ओर चल पड़े।

चूंकि मैं दुर्योधन और पुरोचन की कपटी योजना से अवगत नहीं था, इसलिए मैं उस समय यह नहीं समझ सका कि विदुर ने युधिष्ठिर को क्या समझाया और युधिष्ठिर ने उनकी बात को कैसे समझा। तथापि, विदुर के सान्निध्य में कभी-कभी रहने से मुझे यह लाभ हुआ कि मैं इतना तो समझ गया कि वारणावत में कुछ घटित होने वाला था तथा विदुर ने युधिष्ठिर को संकेत से उस संकट की तथा उससे बच निकलने की युक्ति बता दी थी।

मैंने, नगर की ओर लौटते समय, विदुर से मार्ग में उनकी सांकेतिक भाषा का स्पष्ट आशय जानने का प्रयत्न किया, किंतु उन्होंने यह कहकर बात को टाल दिया, “अश्वत्थामा, समय की प्रतीक्षा करो। तुम्हें स्वयं ही सब पता लग जाएगा।” मैं उन्हें देखता रहा और वे दूर क्षितिज में देखते रहे।

कुछ पल रुककर, विदुर ने फिर कहा, “अश्वत्थ, मुझे इस बात का बहुत संतोष है कि युधिष्ठिर को वह बात समझाते हुए तुम मेरे साथ थे। जब भी इतिहास सुनाने का समय आएगा तो तुम कह सकोगे कि हस्तिनापुर के राजमहल में पांडवों के विरुद्ध जो षड्यंत्र रचा गया था, उसमें इस दासी-पुत्र विदुर की कोई भूमिका नहीं थी और उसने अधर्म का कभी साथ नहीं दिया।” विदुर ने यह बात भी सांकेतिक ढंग से कही थी। मैं समझ गया कि इस पूरे प्रकरण को जानने-समझने के लिए मुझे वारणावत से आने वाले अगले समाचार की प्रतीक्षा

करनी होगी।

लगभग एक वर्ष बाद, अचानक यह समाचार मिला कि वारणावत में जिस भवन में पांडव अपनी माता कुंती के साथ रह रहे थे, उसमें आग लग गई। इस दुर्घटना में पाँचों पांडव एवं कुंती जलकर भस्म हो गए! उनके आवास-भवन से सात लोगों के जले हुए कंकाल प्राप्त हुए थे। बुरी तरह जल जाने के कारण शवों की पहचान नहीं हो सकी, किंतु ऐसा बताया गया कि उन सात में, एक कंकाल पुरोचन का भी था!

पांडवों की असमय व दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु का समाचार सुनकर हस्तिनापुर में शोक की लहर दौड़ गई। जो लोग युधिष्ठिर के वारणावत से लौटकर उसके युवराज बनने की प्रतीक्षा कर रहे थे, उनके लिए इससे बुरा समाचार कोई नहीं हो सकता था। कुरु वंश में हुई इस त्रासदी से संपूर्ण राजपरिवार शोक में डूबा हुआ था, हालांकि दुर्योधन और धृतराष्ट्र का दुख केवल ऊपरी था। दोनों, मन ही मन, अत्यंत प्रसन्न थे और शकुनि से तो उसकी ख़ुशी सँभल ही नहीं रही थी। धृतराष्ट्र की आज्ञा से वारणावत में ही पाँचों पांडवों तथा उनकी माता कुंती की अंत्येष्टि कर दी गई। इतना कुछ हो जाने के बाद भी, मेरा मन इस बात को स्वीकार नहीं कर रहा था कि पांडव जैसे शूरवीर और विवेकशील पुरुष इस तरह की दुर्घटना का शिकार हो सकते थे। मैं इसी बात को सोचकर परेशान था कि विदुर द्वारा युधिष्ठिर को दी गई चेतावनी व्यर्थ कैसे जा सकती थी।

मैं बहुत दिन शांत रहा किंतु मुझसे यह अवसाद सहन नहीं हुआ। मैं एक दिन अवसर पाकर विदुर के पास गया और बोला, “महात्मा विदुर, आप जो देख सकते हैं, उसे देखना या समझना यहाँ किसी के लिए संभव नहीं है। कृपया सत्य कहें, क्या सचमुच पांडव और उनकी माता कुंती लाक्षागृह में मारे गए हैं?”

विदुर ने मेरी आँखों में देखा। उन्होंने एक क्षण में न केवल मेरे भीतर के आवेग को पढ़ लिया, अपितु यह भी जान लिया कि पांडवों की मृत्यु के विषय में मेरी शंका शीघ्र शांत होने वाली नहीं थी। वह बोले, “अश्वत्थामा, मैं भविष्यद्रष्टा तो नहीं हूँ, लेकिन इतना अवश्य जानता हूँ कि पांडवों ने सदा धर्म का पालन किया है और अधर्म कितना भी कुटिल, कितना भी निर्दयी क्यों न हो जाए, वह धर्म को परास्त करना तो दूर, उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता!” सांकेतिक ढंग से बात कहने में विदुर का सानी नहीं था। उनसे इससे अधिक स्पष्ट उत्तर की आशा करना व्यर्थ था।

मेरे संदेह की पुष्टि हो चुकी थी। पांडव जीवित थे और मेरे लिए उस समय इतना जान लेना पर्याप्त था! यह स्पष्ट था पांडव वेश बदल, वारणावत छोड़कर किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर चले गए होंगे ताकि दुर्योधन उन्हें मरवाने के लिए दोबारा कोई षड्यंत्र न रचने लगे।

वह रात मेरे लिए असमंजस से भरी थी। मेरा मन अधर्मी दुर्योधन के प्रति निष्ठा और धर्मपरायण पांडवों के प्रति सहानुभूति के बीच लोलक की तरह झूल रहा था। यदि मैं दुर्योधन का पक्ष लेकर पांडवों के जीवित होने का भेद उसके समक्ष प्रकट कर देता तो वह तत्काल

अपने सैनिकों को पांडवों की खोज में वारणावत भेज देता और उन्हें फिर से मारने का प्रयत्न करता। दूसरी ओर, यदि मैं पांडवों का पक्ष लेकर उन्हें बचाने का प्रयास करता तो यह दुर्योधन के साथ विश्वासघात करने के समान था क्योंकि मैं सदा उसकी कृपा का पात्र रहा हूँ।

भीषण ऊहापोह की स्थिति के बीच, आख़िर मैंने दुर्योधन के समक्ष पांडवों के जीवित होने का रहस्य प्रकट नहीं किया। मैं नहीं जानता कि इतिहास मेरे इस कृत्य को दुर्योधन के साथ किया गया विश्वासघात समझेगा अथवा, मुझे पांडवों के जीवन की रक्षा करने के लिए धर्मपरायण मानेगा। मैं यह निर्णय विधि के हाथों लिखे जा रहे इतिहास पर छोड़ रहा हूँ।

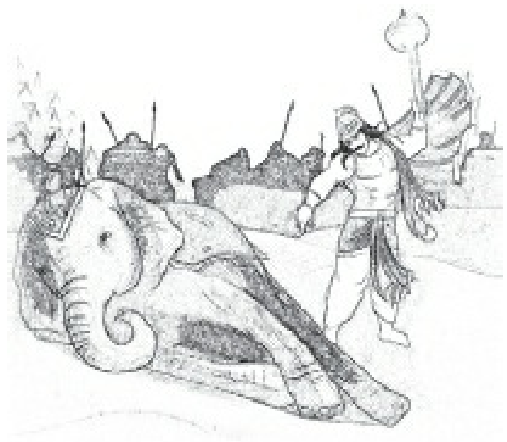

11

द्रुपद की कन्या कृष्णा, जिसे द्रौपदी भी कहते थे, विवाह-योग्य हो चुकी थी। द्रुपद को उसके लिए ऐसे वर की तलाश थी, जो द्रौपदी को ख़ुश रखने के साथ-साथ द्रुपद की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा में भी सहभागी बन सके। द्रुपद, इतने वर्ष बीत जाने पर भी द्रोण के उस पराक्रमी शिष्य अर्जुन को, जिसने द्रुपद को क्षणभर में बेड़ियों में बाँध लिया था, भुला नहीं सका था। इसी कारण, अपनी पुत्री द्रौपदी के लिए, महारथियों से भरे संसार में द्रुपद को अर्जुन से बेहतर कोई नाम नहीं सूझ रहा था।

उन दिनों कन्या के विवाह के लिए स्वयंवर रचाने की प्रथा थी जिसमें कन्या अपने पिता के राजदरबार में उपस्थित राजकुमारों में से अपनी पसंद का वर चुनने के लिए स्वतंत्र होती थी। इसमें एक समस्या यह थी कि द्रौपदी और अर्जुन की पहले कभी भेंट नहीं हुई थी और द्रुपद को डर था कि स्वयंवर के दौरान, द्रौपदी किसी अन्य पुरुष को अपना वर न चुन ले। इसलिए, द्रुपद ने अपने पुत्र धृष्टद्युम्न के साथ मिलकर द्रौपदी के स्वयंवर के लिए एक अत्यंत कठिन प्रतियोगिता का आयोजन किया। वह प्रतियोगिता इतनी कठिन थी कि किसी साधारण व्यक्ति के लिए तो उसमें भाग लेना ही संभव नहीं था और द्रुपद को मन में यह

विश्वास था कि उस दुस्तर प्रतियोगिता में अर्जुन के अतिरिक्त कोई अन्य विजयी नहीं हो पाएगा!

प्रतियोगिता की शर्त यह थी कि उसमें भाग लेने वाले प्रतिभागियों को स्वयंवर-कक्ष की छत पर घूमती हुई धातु-निर्मित मछली की आँख को भेदना था लेकिन इसमें भी दो शर्तें थीं। पहली शर्त यह थी कि प्रतिभागी अपने लक्ष्य को सीधे नहीं देख सकते थे। उन्हें यह निशाना मछली के ठीक नीचे रखे जल-पात्र में मछली की परछाईं को देखकर लगाना था। दूसरी शर्त, पहली से भी अधिक कठिन थी कि निशाना लगाने के लिए वे अपने साथ लाए शस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। लक्ष्य-भेदन के लिए उन्हें संसार के सबसे भारी किंधार नामक धनुष का प्रयोग करना था, जिसे चलाने से पूर्व उसकी प्रत्यंचा चढ़ाना आवश्यक था। लक्ष्य-भेदन के लिए उन्हें अधिक से अधिक पाँच बाण चलाने की अनुमति थी! कुल मिलाकर, यह स्पष्ट था कि द्रुपद अपनी कन्या के लिए वर नहीं, अपितु अपनी सहायता हेतु संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर खोज रहा था।

स्वयंवर के निर्माण के लिए पंचाल नगर का ईशान कोण चुनकर, वहाँ एक समतल व सुंदर स्थल तैयार किया गया। उसके चारों ओर बड़े-बड़े भवन, परकोटे और फ़ाटक बने हुए थे जिनके किनारे-किनारे बंदनवार लटकाने का प्रबंध था। भीतों की ऊँचाई और उन पर बनी हुई रंग-बिरंगी चित्रकला के चलते, सभी भवन एवं महल, हिमालय-से विशाल जान पड़ रहे थे। स्वयंवर से पूर्व चल रहे उत्सव का यह सोलहवां दिन था।

स्वयंवर में भाग लेने के उद्देश्य से दुर्योधन सहित उसके बहुत-से भाई, कर्ण, अनेक प्रतापी राजा, बृहद्बल, भोज, मणिमान, सहदेव, जयत्सेन, विराट, सुशर्मा, चेकितान, पौण्ड्रक, भगदत्त, शल्य, शिशुपाल, जरासंध आदि आए हुए थे। मैंने देखा, द्रौपदी बहुत सुंदर थी और शायद इसी कारण सभा में आमंत्रित राजाओं व राजकुमारों के अतिरिक्त बहुत-से ब्राह्मण और अन्य जाति के लोग भी वहाँ विराजमान थे। मैं स्वयं द्रौपदी के रूप पर मुग्ध था और अपना भाग्य परखने हेतु द्रुपद के दरबार में पहुँच गया था। चूंकि मैंने कुरु राजकुमारों के साथ रहते हुए धनुर्विद्या सीखी थी, इसलिए मुझे पता था कि हम सबमें केवल अर्जुन ही उस कठिन लक्ष्य को भेद सकता था। हालांकि जिस आत्म-विश्वास से रंगभूमि में कर्ण ने अर्जुन को ललकारा था, उसे देखते हुए कर्ण भी संभावित प्रत्याशी हो सकता था। वारणावत की घटना के बाद, केवल मैं जानता था कि पांडव जीवित हैं किंतु मुझे भी उनके विषय में कोई जानकारी नहीं थी। अर्जुन की अनुपस्थिति में कर्ण के जीतने की संभावना बढ़ गई थी, परंतु भगदत्त, शल्य, शिशुपाल और जरासंध को भी कम आँकना सही नहीं था।

तभी सबकी दृष्टि द्रुपद-कुमारी कृष्णा पर पड़ी जो अति सुंदर वस्त्र तथा आभूषणों से सजी हाथ में सोने की वरमाला लेकर कक्ष में प्रवेश करते हुए मंदगति से रंग-मंडप की ओर आ रही थी। वह धीमे-से अपने भाई धृष्टद्युम्न के समीप आकर खड़ी हो गई। धृष्टद्युम्न ने अपनी रूपवती बहन को देखा और फिर गंभीर किंतु मधुर वाणी में सभासदों को संबोधित करते हुए कहा, “स्वयंवर के उद्देश्य से समागत नरपतियों एवं राजकुमारों! मैं द्रुपद-पुत्र

धृष्टद्युम्न आप सभी का हार्दिक स्वागत करता हूँ। आप सभी कृपया ध्यान से सुनें। जैसा कि आप सब जानते हैं कि यह स्वयंवर पंचाल नरेश महाराज द्रुपद की कन्या तथा मेरी बहन कृष्णा के विवाह हेतु रचा गया है। कृष्णा के इस स्वयंवर में एक प्रतियोगिता रखी गई है। यह प्रसिद्ध्र किंधार धनुष है तथा इसके समीप कुछ बाण रखे हुए हैं। आपको अपनी बारी आने पर ऊपर उस ढाल के मध्य बने छिद्र में से बाण मारकर उसके पार घूमती हुई मछली की आँख को भेदना है। यही आपका लक्ष्य है। इसमें दो शर्तें और हैं। पहली यह कि प्रतिभागी अपने लक्ष्य को सीधे नहीं देख सकते। उन्हें यह निशाना नीचे रखे जल-पात्र में मछली की परछाई को देखकर लगाना है। दूसरी शर्त यह है कि निशाना लगाने के लिए आप अपने अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। इसके लिए आपको किंधार धनुष एवं यहाँ रखे बाणों का ही प्रयोग करना है। लक्ष्य-भेदन के लिए अधिक से अधिक पाँच बाण मारने का अवसर दिया जाएगा। जो कुलीन पुरुष इस कार्य को संपन्न करेगा, मेरी प्रिय बहन द्रौपदी उस श्रेष्ठ पुरुष का पति-रूप में वरण करेगी।”

धृष्टद्युम्न ने ज्यों ही स्वयंवर की इस प्रतियोगिता के नियम बताए, सभी प्रतिभागियों ने ऊपर छत पर घूमती हुई मछली की ओर देखा। “इसे भेदना तो असंभव है!” शिशुपाल चिल्लाया। दूसरे राजा, जो मन में यही बात सोच रहे थे, अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए मुसकराए मानो शिशुपाल का उपहास कर रहे हों। जहाँ एक ओर द्रौपदी के रूप को देखकर सभा में बैठे राजाओं की बाँछें खिल रही थीं, वहीं छत पर घूमती हुई मछली तथा सामने रखे भारी-भरकम किंधार धनुष को देखकर उनके हौसले पस्त हुए जाते थे। मैं भी उस भीड़ में बैठकर अपने जीतने की संभावनाएँ तलाश रहा था। मैं धनुर्विद्या में अर्जुन से अधिक पीछे नहीं था, किंतु किंधार पर प्रत्यंचा चढ़ाकर और फिर सफलतापूर्वक लक्ष्य भेदने की संभावना मुझे कम ही नज़र आ रही थी। अपनी क्षमता का मुझे भली-भांति अंदाज़ा था। ऐसे लक्ष्य को भेदने के लिए ज़बरदस्त आत्म-विश्वास, उत्कृष्ट कौशल तथा वक के समान एकाग्रता की आवश्यकता थी। मेरी जानकारी में ये गुण अर्जुन के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए संभव नहीं था।

प्रतियोगिता आरंभ हुई। एक-एक करके प्रतिभागी, लक्ष्य साधने की आशा में अपने आसन से उठकर आए, किंतु लक्ष्य भेदना तो दूर की बात थी, वहाँ उपस्थित अधिकतर राजा किंधार धनुष को उठा तक नहीं पाए। जब शिशुपाल, जरासंध और दुर्योधन जैसे महाबली राजा भी विफल हो गए तो, मेरा मन खिन्न हो उठा। मुझे वह धनुष उठाने का प्रयास करने और फिर हँसी का पात्र बनने से अधिक, प्रतियोगिता छोड़ देना बेहतर लग रहा था। परंतु महारथियों की सभा में ऐसा करना धनुष उठाने में विफल होने से भी अधिक हीन समझा जाता। इसलिए, मैं अपना तथा सभा का मान रखने के उद्देश्य से उठकर गया। किंधार को हाथ लगाते ही मुझे लगा मानो उस चमत्कारी धनुष ने मेरे भीतर का समस्त बाहुबल को अपने भीतर खींच लिया। मैं जान गया कि किंधार को उठाना मेरे लिए संभव नहीं था। मैंने उस महान धनुष को प्रणाम किया और उसे उठाने का प्रयास किए बिना ही, मैं अपने आसन पर वापस लौट आया। मेरे पिता ने बाद में ऐसा करने के लिए मेरी प्रशंसा की थी। अपने

सामर्थ्य का सही अनुमान होना योद्धा के लिए नितांत आवश्यक होता है।

मेरे बाद कर्ण की बारी थी। मुझे कर्ण के बाहुबल और उसकी धनुर्विद्या पर पूरा भरोसा था। ज्यों ही कर्ण अपने आसन से उठकर धनुष की ओर बढ़ा, धृष्टद्युम्न ने उसे रोक दिया।

“रुको कर्ण!” धृष्टद्युम्न बोला, “तुमने शायद मेरी बात ठीक से नहीं सुनी। मैंने आरंभ में ही कहा था कि जो कुलीन पुरुष इस महान कार्य को संपन्न करेगा, उससे द्रौपदी का विवाह होगा। क्या तुम कुलीनता के मानदंड पर स्वयं को उचित ठहरा सकते हो? मैंने सुना है कि तुम्हें रंगभूमि में भी भाग नहीं लेने दिया गया था क्योंकि तुम सूत-पुत्र हो! सूत-पुत्र कुलीन कैसे हो सकता है?”

कर्ण की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। उससे यह सार्वजनिक रूप से हुआ अपमान सहन नहीं हुआ, किंतु उसने अपने स्वर को नियंत्रित करते हुए कहा, “राजकुमार धृष्टद्युम्न! आपको शायद यह पता नहीं है कि मैं अब सूतपुत्र नहीं, अपितु अंगराज कर्ण हूँ और एक राज्य का शासक होने के नाते मुझे राजकुमारी कृष्णा के स्वयंवर में भाग लेने का पूर्ण अधिकार है!”

धृष्टद्युम्न ने कर्ण पर पैनी दृष्टि डाली और फिर अपमानजनक ढंग से कहा, “कर्ण! मुझे तो सबकुछ पता है, किंतु तुम शायद यह भूल रहे हो कि जिस अंग देश का शासक बनकर तुम इस सभा में बैठे हो, वह तुम्हें न तो विरासत में मिला है और न ही तुमने उसे अपने पराक्रम से जीता है। वह राज्य तुम्हें राजकुमार दुर्योधन से भिक्षा में प्राप्त हुआ है। दान में मिली वस्तु तुम्हारी दीनता भले ही दूर कर दे, किंतु वह तुम्हें कुलीन नहीं बना सकती! इसलिए, पीछे लौट जाओ और अपना आसन ग्रहण करो, सूतपुत्र कर्ण!”

कुल के नाम पर, कर्ण का यह दूसरी बार तिरस्कार हुआ था। कर्ण की आँखें क्रोध एवं अपमान से जल रही थीं। उसका दाहिना हाथ कमर में बाईं ओर बँधी तलवार की मूठ पर पहुँच गया था। मैंने देखा कि धृष्टद्युम्न ने भी अपनी तलवार थाम ली थी। तभी दुर्योधन ने कर्ण को संकेत से वापस लौट आने को कहा। कर्ण चुपचाप अपने स्थान पर आकर बैठ गया। मुझे यह सोचकर दुख हो रहा था कि दुर्योधन की अनुकंपा ने किस प्रकार सिंह के समान बलशाली एवं निर्भीक कर्ण को बकरी-सा दुर्बल एवं असहाय बना दिया था! यदि कर्ण दुर्योधन के कृपा-सूत्र से बँधा न होता तो पंचाल राजसभा में उस दिन द्रौपदी की डोली के स्थान पर दो-चार महारथियों की अर्थियाँ उठ जातीं!

द्रुपद की दृष्टि सभा में किसी को खोज रही थी। मैं जानता था कि द्रुपद को अर्जुन की प्रतीक्षा थी। परंतु अर्जुन वहाँ कैसे हो सकता था! द्रुपद हताश हो रहा था कि तभी सभा की पिछली पंक्ति में से ब्राह्मण वेश में ऊँचे कद और बलिष्ठ काया वाला एक युवक उठा और रौबदार ढंग से चलता हुआ धनुष के पास आकर खड़ा हो गया। उसके वस्त्र धूल से सने थे और देखने से लगता था कि उसने कई दिन से अपने केश नहीं सँवारे थे। वह नंगे पाँव था और उसके पैरों में लगी धूल से सभा का फ़र्श गंदा हो गया था।

"चूंकि ब्राह्मण कुलीन वंश के होते हैं, इसलिए मैं इस प्रतियोगिता में भाग लेने का अधिकारी हूँ!" उसने अचंभित कर देने वाले आत्मविश्वास से कहा। उसकी बात सुनकर सभा में ठहाका गूँज उठा। लोगों की हँसी से यह स्पष्ट था कि वे उस ब्राह्मण का उपहास कर रहे थे। ब्राह्मण ने एक बार घूमकर पूरी सभा को देखा और फिर हाथ जोड़कर धनुष को प्रणाम किया। इसके बाद, उसने बिजली की तेज़ी से धनुष को उठाया और उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। फिर उसने धनुष के निकट रखा बाण उठाया और अगले ही क्षण, नीचे रखे जल-पात्र में मछली की परछाईं को देखकर ऊपर घूमते अपने लक्ष्य पर बाण चला दिया। इससे पहले कि वहाँ बैठे लोग कुछ देख अथवा समझ पाते, छत से लटकी हुई मछली तीर से बिंधकर नीचे गिर गई और सबने देखा कि उस ब्राह्मण का बाण मछली की आँख को भेदकर पार निकल गया था।

द्रुपद की सभा में सन्नाटा छा गया। द्रुपद सहित सभी राजा और सभासद हैरान थे कि उस असंभव कार्य को एक ब्राह्मण ने इतने कौशल एवं फुर्ती से पूर्ण कर दिया था।

"आपकी पुत्री कृष्णा आज से मेरी पत्नी हुई," ब्राह्मण ने कहा, "कृपया इसकी विदाई की तैयारी करें!" क्षत्रिय वातावरण में पली-बड़ी कृष्णा, एक ब्राह्मण को पति-रूप में पाकर हैरान रह गई। परंतु स्वयंवर के नियमों के अनुसार, उसके सामने खड़ा धनुषर्धारी ब्राह्मण अब उसकी वरमाला का अधिकारी एवं उसका जीवनसाथी बन चुका था। उसने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने असहाय पिता तथा भाई धृष्टद्युम्न को देखा और फिर धीरे-से ब्राह्मण के समीप जाकर वरमाला उसके गले में डाल दी।

"इस राजदरबार में, यह क्या अनर्थ हो रहा है?" राजा भगदत्त ने चिल्लाकर कहा, "हम कुलीन राजाओं के रहते हुए द्रुपद अपनी पुत्री का विवाह किसी अनजान वंश के ब्राह्मण के साथ कैसे कर सकते हैं?"

"यह हम सबका अपमान है। हम इसे बर्दाश्त नहीं करेंगे।" ऐसा कहते हुए चेकितान और सुशर्मा अपनी तलवार खींचकर उठ खड़े हुए। उन्हें देखकर अन्य राजाओं के साथ, दुर्योधन और उसके भाइयों की हिम्मत भी जाग उठी। वे सब अपने-अपने आसन छोड़कर उस अकेले ब्राह्मण पर झपटे। उनमें से कुछ ने द्रुपद एवं धृष्टद्युम्न का रुख कर लिया।

दुर्योधन ने मेरी ओर भी अपेक्षा से देखा। वह चाहता था कि मैं उठकर व्यर्थ के झगड़े में उसका साथ दूँ। परंतु मेरे जीवन के अपने कुछ नियम हैं। मेरी दृष्टि में ब्राह्मण ने कोई अपराध नहीं किया था और उसे कृष्णा का पति बनने का नैतिक अधिकार था। मैंने दुर्योधन को देखकर मुँह फेर लिया और अपने स्थान पर बैठा रहा।

तभी कुछ ऐसा हुआ जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। भीड़ में से ब्राह्मण-वेश में एक और भीमकाय व्यक्ति उठा और कृष्णा के पति के बचाव में सामने आ गया। वहाँ बैठे लोगों ने शायद ध्यान न दिया हो, मैंने देखा था कि उसी तरह के ब्राह्मण वेश में श्वेत वस्त्र पहने तीन और बलिष्ठ ब्राह्मण पीछे की पंक्ति में बैठे हुए थे।

मेरे मन में विचार आया, “क्या ये पाँचों ब्राह्मण, पांडव हैं?”

तभी एक ज़ोरदार आवाज़ आई, “तुम पीछे हट जाओ, कृष्णा!” बाण चलाने वाले ब्राह्मण ने द्रौपदी को द्रुपद के पीछे धकेलते हुए कहा।

इसके बाद, उन दोनों ब्राह्मणों ने वहाँ विरोध कर रहे राजाओं की मार-मारकर जो दुर्दशा की उसे यहाँ व्यक्त करना कठिन है और व्यर्थ भी! उन्होंने किसी को सँभलने का अवसर ही नहीं दिया। देखते-देखते, गले में वरमाला पहने वह ब्राह्मण द्रौपदी का हाथ पकड़कर, उसे अपने साथ राजमहल से बाहर ले गया। सहसा मची हलचल के बीच लोगों ने ध्यान ही नहीं किया कि शेष चारों ब्राह्मण भी उसके पीछे-पीछे चले गए।

निस्संदेह, वे पाँचों पांडव ही थे! पांडव भरे-दरबार में आकर, दुर्योधन के सामने से द्रौपदी को लेकर जा चुके थे। शायद यह इतिहास में पहली बार हुआ था कि कन्या के परिवार को यह भी पता नहीं लगा कि उनकी पुत्री का वर कौन था, कहाँ से आया था और कहाँ चला गया!

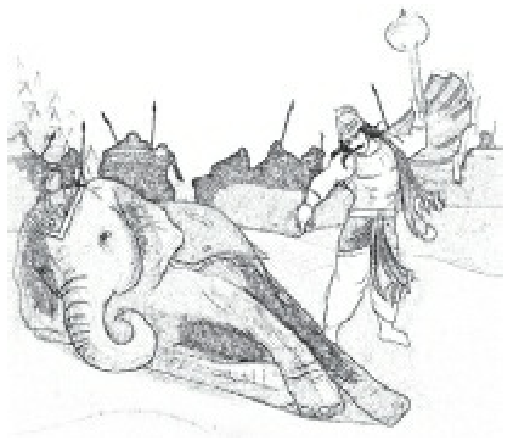

12

द्रुपद ने शीघ्र ही अपने गुप्तचरों से यह पता करवा लिया कि वे पाँच ब्राह्मण, पांडव ही थे जो वेश बदलकर नगर से बाहर रहते थे और भिक्षावृत्ति करके जीवनयापन करते थे।

पांडव स्वयंवर से द्रौपदी को लेकर सीधे अपनी माता कुंती के पास पहुँचे। उस समय कुंती खाना पका रही थी। कुंती को ज्यों ही अपने पुत्रों की पदचाप सुनाई पड़ी, उसने बिना उनकी ओर देखे पूछा, “आज भिक्षा लाने में बहुत देर लगा दी!”

अर्जुन ने कहा, “माँ, आज हमें भिक्षा में कुछ विशेष प्राप्त हुआ है! आप देखेंगी तो बहुत प्रसन्न होंगी।”

कुंती अपने काम में इतनी व्यस्त थी कि उसने लापरवाही में कह दिया, “देखना क्या है पुत्र, जो कुछ लाए उसे पाँचों भाई आपस में बाँट लो!”

कृष्णा पीछे खड़ी थी। कुंती की बात सुनकर मानो उसका रक्त जम गया। कुंती की बात का अर्थ था कि वह पाँचों भाइयों में बँटने वाली थी!

“क्या मुझे पाँच पतियों के साथ रहना होगा? वह सोचने लगी। “पाँच पतियों की पत्नी बनने से तो मर जाना बेहतर होगा!” द्रौपदी का सोचना ठीक था। उस युग में पुरुष को एक से अधिक पत्नियाँ रखने का अधिकार होता था, किंतु एक से अधिक पति होने पर स्त्री को वेश्या मान लेने की संभावना प्रबल थी! द्रौपदी ने पाँच भाइयों की पत्नी बनने पर कड़ी आपत्ति जताई, लेकिन मातृ-भक्त पांडवों ने उस अबला की एक नहीं सुनी।

मेरे विचार से द्रौपदी पर केवल अर्जुन का अधिकार था। मुझे लगता है, यदि अर्जुन अपनी माता कुंती को पूरी बात स्पष्ट करके बताता तो वह द्रौपदी को अपने पाँचों पुत्रों की पत्नी बनने के लिए कदापि विवश नहीं करती। यहाँ पांडवों से भारी भूल हुई तथा द्रौपदी के साथ घोर अन्याय हुआ।

पांडवों से विवाह के उपरांत कृष्णा उनके साथ रहने लगी। कुछ ही दिन में, यह समाचार हस्तिनापुर पहुँच गया। जहाँ एक ओर हस्तिनापुर की प्रजा तथा भीष्म, द्रोण, कृप और विदुर आदि लोग इस समाचार से अत्यंत हर्षित थे, वहीं इसी समाचार से धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा शकुनि की कपट-मंडली पर शोक छा गया। पांडवों की हत्या करने की योजना बुरी तरह विफल हो गई थी।

“भांजे!” शकुनि ने दुर्योधन से कहा, “यह सब क्या हो गया? यह कैसी योजना बनाई थी तुमने?”

“मैं क्या कर सकता हूँ, मामाश्री,” दुर्योधन ने खिन्न होकर कहा, “मैंने तो पांडवों की हत्या का पूरा प्रबंध कर दिया था। मुझे स्वयं यह समझ में नहीं आ रहा कि हमारे पक्ष में घूम रहा नियति-चक्र इस तरह अचानक उल्टी चाल क्यों चलने लगा! आप भी तो पहले मेरी इस योजना की प्रशंसा कर रहे थे। अब तनिक गड़बड़ हो गई, तो आप मुझे ताना मारने लगे!”

“तुम लोग आपस में झगड़ना बंद करो और आगे की सोचो,” धृतराष्ट्र ने अपना मुकुट सँभालते हुए कहा, “अब जब पांडव वापस हस्तिनापुर लौटेंगे तो उन्हें प्रजा का पहले से भी अधिक स्नेह प्राप्त होगा और सबसे पहले मेरे मुकुट के छिन जाने का संकट सामने है! युधिष्ठिर ज्येष्ठ पांडव है और आयु में दुर्योधन से बड़ा है, इसलिए युवराज के पद पर पहला अधिकार उसी का बनेगा।” तीनों देर रात तक इसी समस्या पर चर्चा करते रहे।

अगले दिन सुबह राजदरबार में, इससे पहले कि धृतराष्ट्र कुछ कह पाता, भीष्म पितामह ने बोलना शुरू कर दिया। “हम सबके लिए यह अत्यंत प्रसन्नता भरा समाचार है कि पाँचों प्रिय पांडव जीवित व सकुशल हैं। यही नहीं, ईश्वर की कृपा से पंचाल नरेश द्रुपद की पुत्री कृष्णा के स्वयंवर में विजयी होने के फलस्वरूप, उनका विवाह भी सम्पन्न हो गया है। मेरे विचार से अब समय आ गया है कि युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का कार्यभार सौंप दिया जाए।”

भीष्म का व्यक्तित्व इतना गौरवशाली एवं उदात्त था कि हस्तिनापुर तो क्या, समूचे भारतवर्ष में किसी व्यक्ति में इतना साहस नहीं था कि उनकी बात का खंडन करने की धृष्टता

अथवा मूर्खता करता। दुर्योधन, यद्यपि, इसका अपवाद था! नेत्रहीन धृतराष्ट्र के पुत्र-मोह के चलते दुर्योधन आवश्यकता से अधिक हठी एवं धृष्ट हो गया था। वह भीष्म की बात पर आंखें तरेरते हुए बोला, "पितामह! नेत्रहीनता के चलते जो अन्याय मेरे पिता के साथ हुआ, वही अब आप मेरे साथ करना चाहते हैं? ध्यान रखिए, मैं विकलांग नहीं हूँ!"

"नहीं पुत्र दुर्योधन," भीष्म बोले, "तुम्हारे साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं किया जाएगा। तुम्हारा अधिकार तुमसे छीनने की मेरी कोई मंशा नहीं है। मेरा प्रस्ताव यह है कि हस्तिनापुर का विभाजन करके आधा राज्य पांडवों को दे दिया जाए और शेष आधे राज्य पर कौरवों का अधिकार रहेगा। इसमें तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि अब भी किसी को आपत्ति है तो मैं केवल इतना कहूँगा कि इस परिवार का ज्येष्ठ होने का नाते यह मेरा आदेश है और इसका पालन किया जाना चाहिए। पांडवों को तत्काल हस्तिनापुर आमंत्रित किया जाए!"

भीष्म के स्वर में इतनी दृढ़ता थी कि उनकी बात पर हामी भरने के अतिरिक्त किसी के पास कोई विकल्प नहीं था। दुर्योधन जानता था कि कुछ और कहने से भीष्म कुपित हो सकते थे। उसने सिर झुकाकर अपनी मौन स्वीकृति प्रकट कर दी। हालांकि मैंने कर्ण और दुर्योधन की आँखों में द्वेष की लौ जगमगाती देख ली थी और मुझे पता था कि वे पांडवों को आधा राज्य भले ही लेने दें किंतु उन्हें सुखपूर्वक जीने नहीं देंगे। परंतु मैं नहीं जानता था कि मेरा अनुमान इतनी जल्दी सच हो जाएगा!

पांडवों को हस्तिनापुर लेकर आने का कार्य महात्मा विदुर को सौंपा गया। कुछ ही समय में, विदुर पाँचों पांडवों के साथ द्रौपदी और कुंती को लेकर हस्तिनापुर लौट आए। बड़े आदर के साथ उन सबका स्वागत किया गया। उचित समय देखकर, विधि-विधान के साथ हस्तिनापुर का विभाजन करके आधा राज्य युधिष्ठिर को दे दिया गया। युधिष्ठिर ने बड़े प्रयत्न से, अपने भाइयों के साथ मिलकर अपना राज्य स्थापित किया और उसे नाम दिया - इंद्रप्रस्थ।

हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के बीच लोगों तथा राज्याधिकारियों का आना-जाना लगा रहता था। एक बार मुझे समाचार मिला कि अर्जुन अचानक वनवास के लिए चला गया। दुर्योधन के साथ मेरी निकटता अवश्य थी, किंतु दूसरों की व्यक्तिगत बातों पर ध्यान देने अथवा उन पर अनावश्यक चर्चा करने में मेरी कोई रुचि नहीं थी। परंतु अर्जुन का अकेले वनवास जाना सचमुच आश्चर्य की बात थी और उसे लेकर कौतूहल जागना स्वाभाविक था। मैं इस तरह की पूछताछ अधिकतर विदुर से किया करता था। धर्म का अंश होने के नाते, ज्ञान और विवेक के क्षेत्र में विदुर का मुक़ाबला नहीं था। यही कारण था कि उनके द्वारा साधारण रूप से कही बातों में भी ज्ञान का प्रकाश झिलमिलाता था।

विदुर से अर्जुन के वनवास का कारण पूछने पर एक नई और रोचक बात पता लगी।

पाँच पतियों के साथ एक स्त्री का रहना कोई सहज बात नहीं थी। इस विचित्र व्यवस्था

को सुचारू ढंग से चलाने के लिए तथा द्रौपदी के लिए उन पाँचों को यथोचित समय देने हेतु महर्षि वेदव्यास ने कुछ विशेष नियम बनाए थे। कुछेक सामान्य बातों के अतिरिक्त, मुख्य नियम यह था कि द्रौपदी एक वर्ष तक एक भाई की पत्नी बनकर रहती थी और फिर अगले वर्ष वह दूसरे भाई की पत्नी बन जाती थी। इस तरह, एक बार में एक ही पुरुष, द्रौपदी का पति बनकर रहता था। अनेक पुरुषों के संसर्ग में आने के कारण यह स्वाभाविक था कि द्रौपदी के मन में किसी एक की अपेक्षा दूसरे के लिए अधिक स्नेह उत्पन्न हो सकता था, परंतु वेदव्यास ने इसका भी समुचित प्रबंध कर दिया गया था। उन्होंने द्रौपदी को यह वरदान दिया कि उसके मन में सभी भाइयों के लिए समान स्नेह बना रहेगा। पति-पत्नी के मध्य एकांत का भी ध्यान रखना आवश्यक था। इसलिए, एक नियम यह भी बनाया गया कि जब द्रौपदी अपने किसी पति के साथ उसके कक्ष में होगी तो उस समय, कोई अन्य भाई कक्ष में प्रवेश नहीं करेगा। इस नियम का उल्लंघन करने वाले को बारह वर्ष का वनवास भोगना पड़ेगा! अर्जुन ने यही भूल कर दी थी। किसी ब्राह्मण की रक्षा हेतु अपने अस्त्र-शस्त्र लेने वह युधिष्ठिर के कक्ष में तब घुस गया, जबकि द्रौपदी उस कक्ष में युधिष्ठिर के साथ बैठी थी। नियमानुसार, अपनी इस भूल के लिए अर्जुन को बारह वर्ष के का वनवास भोगना पड़ा। मेरी जानकारी में, यह भारतवर्ष के इतिहास में एकमात्र अनूठी नियम-व्यवस्था थी!

वनवास के दौरान अर्जुन अनेक स्थानों पर रहा। इन बारह वर्षों में निश्चित ही अर्जुन के साथ बहुत-सी घटनाएँ घटी होंगी, किंतु मुझे उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं है। यद्यपि, मुझे एक घटना अवश्य याद है क्योंकि उसकी बहुत चर्चा हुई थी।

वनवास के समय, संयोग से रैवतक पर्वत पर अर्जुन की भेंट श्रीकृष्ण से हो गई जो उसे अपने साथ द्वारका ले गए। पांडवों की माता कुंती, कृष्ण की बुआ थी। उस नाते कृष्ण और अर्जुन में भाइयों जैसा स्नेह था। एक, इस संबंध के कारण और दूसरा, पता नहीं क्यों, कृष्ण को भी द्रोणाचार्य की भांति, अर्जुन अतिप्रिय था। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि अर्जुन में कुछ विशेष आकर्षण अवश्य था जिसके कारण वह हम सबसे भिन्न था। कृष्ण के साथ घनिष्ठता के चलते द्वारका में अर्जुन का हर्षोल्लास से स्वागत हुआ। कृष्ण की एक बहन थी। उसका नाम सुभद्रा था। अर्जुन ने सुभद्रा को देखा तो बस, देखता ही रह गया! कृष्ण ने उसके मन की बात पढ़ ली।

अर्जुन की बढ़ती बेचैनी को देखते हुए, श्रीकृष्ण ने एक दिन अर्जुन को सुझाव दिया। “अर्जुन,” कृष्ण बोले, “मुझे पता है कि तुम्हें सुभद्रा से प्रेम हो गया है और तुम उससे विवाह करने के इच्छुक हो। परंतु, तुम्हें तो पता कि कन्याओं का विवाह स्वयंवर द्वारा होता है। ऐसे में, यदि सुभद्रा के लिए स्वयंवर आयोजित किया जाए तो यह आवश्यक नहीं कि वह तुमको ही अपना वर चुनेगी।”

“जी केशव! तो मुझे क्या करना चाहिए?” अर्जुन ने पूछा।

“तुम सुभद्रा का अपहरण क्यों नहीं कर लेते?” कृष्ण ने तपाक से प्रश्नवाचक उत्तर

दिया।

“किंतु केशव...” कृष्ण के उत्तर से हैरान होकर अर्जुन बोला, “यह तो अधर्म है। इस तरह कायरों की भांति सुभद्रा का अपहरण करूँगा तो लोग क्या कहेंगे कि संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर एक कन्या को उठाकर ले भागा! नहीं, नहीं! यह मुझसे नहीं होगा।”

“यह धनुष उठाने का अवसर नहीं है,” कृष्ण ने हँसते हुए कहा, “हर जगह धनुर्धर बनने की आवश्यकता नहीं होती, अर्जुन! कभी-कभी धनुष छोड़कर साधारण पुरुष की तरह भी सोचा करो। यदि तुम सुभद्रा से सचमुच प्रेम करते हो और उससे विवाह करने के इच्छुक हो तो यही एक मार्ग है। सुभद्रा प्रतिदिन रैवतक पर्वत पर पूजा के लिए जाती है। बस, मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहूँगा। आख़िर सुभद्रा मेरी बहिन है! मैं अपनी बहन के अपहरण में तुम्हारी इससे अधिक सहायता नहीं कर सकता!” कृष्ण ने व्यंग्य-बाण चलाया। इसके बाद, श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए अर्जुन को उसके विचारों के साथ छोड़कर चले गए। कौन यह मानेगा कि एक भाई अपनी बहन के अपहरण के लिए अपने ही मित्र को उकसा सकता है? परंतु श्रीकृष्ण के विषय में क्या कहा जा सकता है। उनकी भांति उनकी लीलाएँ भी अनंत हैं!

अर्जुन रात-भर कृष्ण की बात पर विचार करता रहा और अगले दिन सुबह वह रैवतक पर्वत पर जा पहुँचा। उसने अवसर पाते ही सुभद्रा का अपहरण कर लिया तथा उसे रथ पर बैठाकर भाग निकला। पल-भर में सुभद्रा-हरण का समाचार द्वारका में आग की तरह फैल गया। समूचे यादव कुल में हाहाकार मच गया। कृष्ण के बड़े भाई बलराम तो ग़ुस्से से आग-बबूला हो उठे। बलराम को शेषनाग का अवतार कहा जाता था। उन्होंने आवेश में आकर अपना गदा एवं हल उठा लिया और अर्जुन को मारने उसके पीछे दौड़ पड़े। परंतु उचित समय पर कृष्ण ने वहाँ पहुँचकर बात सँभाल ली। श्रीकृष्ण इतने वाक्पटु और व्यवहार-कुशल थे कि उन्होंने न केवल बलराम को समझा-बुझाकर शांत कर दिया अपितु अर्जुन को उनसे आशीर्वाद दिलवाकर सुभद्रा के साथ उसका विवाह भी संपन्न करवा दिया। इसी बीच, अर्जुन के बारह वर्ष का वनवास काल भी पूरा हो चुका था। शीघ्र ही, वह सुभद्रा को अपने साथ लेकर इंद्रप्रस्थ लौट आया। सुभद्रा और द्रौपदी में जल्दी ही अच्छा सामंजस्य स्थापित हो गया।

मेरी इस जीवन-गाथा में नीति-निपुण कृष्ण की युक्तियों और चालों के उदाहरण भरे पड़े हैं। उन्होंने धर्मपरायणता के नाम पर अत्यंत चतुराई और कभी-कभी छल का सहारा लेकर पांडवों पर आजीवन कृपा बनाए रखी। मैं सचमुच अंत समय तक उनका प्रशंसक रहा! मैं कृष्ण के चरित्र को समझ नहीं पाया और यह भेद बाद में प्रकट हुआ कि उनको समझना संभव था ही नहीं क्योंकि वह स्वयं ईश्वर का रूप एवं नारायण का अवतार थे!

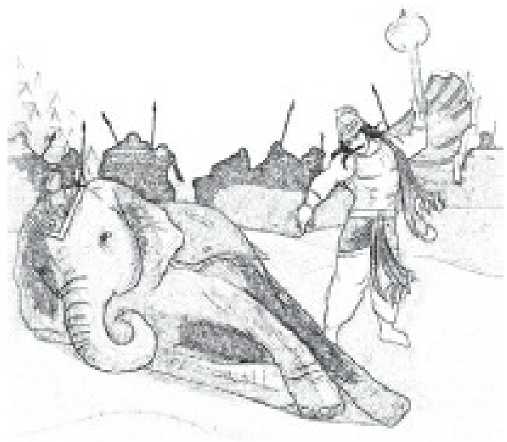

13

वह कालखंड, पांडव कुल की वंश-वृद्धि को समर्पित था।

अर्जुन से विवाह के कुछ समय बाद, सुभद्रा ने अभिमन्यु नाम के बालक को जन्म दिया जो अपने पिता की भांति वीर, कुशल धनुर्धर और तेजस्वी था। सुभद्रा के बाद, द्रौपदी ने भी अपने पाँच पतियों से एक-एक पुत्र को जन्म दिया। इन बालकों के नाम इनके विशेष गुणों के आधार पर रखे गए थे।

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर के पुत्र के लिए कहा कि यह बालक शत्रुओं का प्रहार सहने में विंध्याचल पर्वत के समान अटल होगा, इसलिए उसका नाम 'प्रतिविंध्य' रखा जाए। भीम ने संतानोत्पत्ति से पूर्व एक हज़ार सोमयाग किए थे, इसलिए उसके पुत्र का नाम 'सुतसोम' रखा गया। अर्जुन ने अपने बारह वर्ष के वनवास के दौरान अनेक श्रवण योग्य कार्य किए थे, अतः ब्राह्मणों ने अर्जुन के पुत्र का नाम 'श्रुतकर्मा' रखना उचित समझा। नकुल से जब पूछा गया तो उसने कहा कि वह कुरुवंश के एक प्रतापी राजा शतानीक से अत्यंत प्रभावित था और अपने पुत्र का नाम उन्हीं के नाम पर रखना चाहता था। उसकी इच्छा का आदर करते हुए नकुल के पुत्र का नाम 'शतानीक' रखा गया। सहदेव का पुत्र कृतिका नक्षत्र में पैदा हुआ

था, इसलिए उसका नाम 'श्रुतसेन' रख दिया गया। कुरुवंश की कथा में यूँ तो इन बालकों का कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं है, किंतु मेरे अभिशप्त जीवन से इन पाँचों बालकों का बहुत गहरा संबंध है। इसके बारे में समय आने पर विस्तार से बताऊँगा।

श्रीकृष्ण की कृपा तथा अपने बाहुबल से पांडवों ने कुछ ही समय में इंद्रप्रस्थ राज्य को समृद्ध और ऐश्वर्यवान बना लिया। अपने पौरुष से पाँचों भाइयों ने दिग्विजय यात्रा पूरी की और इंद्रप्रस्थ के वैभव का चारों दिशाओं में विस्तार हो गया।

एक दिन हम लोग धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठकर हस्तिनापुर के राज-काज पर चर्चा कर रहे थे। तभी एक सेवक ने आकर संदेश दिया, "महाराज की जय हो! पांडव कुमार नकुल आए हैं और आपसे मिलना चाहते हैं।"

पांडवों का नाम सुनते ही कर्ण और दुर्योधन की त्योरियाँ चढ़ जाती थीं और धृतराष्ट्र के माथे पर बल पड़ जाते थे। शकुनि की आँखों में उठता ज्वार तो किसी से छिप ही नहीं पाता था। परंतु भीष्म तथा द्रोणाचार्य की उपस्थिति में पांडवों के विरुद्ध कोई कुछ कहने का साहस नहीं करता था।

"प्रणाम तातश्री!" नकुल ने कक्ष में प्रवेश करके भीष्म को प्रणाम किया।

"आयुष्मान भव!" भीष्म ने उठकर नकुल को गले लगा लिया। पांडवों के प्रति भीष्म का स्नेह देखते ही बनता था। कौरवों के साथ रहते हुए भी उनका मन पांडवों में बसता था।

"यहाँ कैसे आना हुआ वत्स?" भीष्म ने पूछा।

"युधिष्ठिर ने आपके चरणों में प्रणाम भेजा है, पितामह!" नकुल ने कहा। "दरअसल, अपनी दिग्विजय यात्रा पूर्ण करने के बाद वे राजसूय यज्ञ करने के इच्छुक हैं और इसके लिए उन्होंने आप सबको इंद्रप्रस्थ आमंत्रित किया है।"

"अति उत्तम!" पितामह अपनी खुशी को सँभाल नहीं पा रहे थे। "युधिष्ठिर से कहना, हम राजसूय यज्ञ में अवश्य आएँगे।"

नियत समय पर, हम लोग हस्तिनापुर से चलकर इंद्रप्रस्थ पहुँच गए। पांडवों ने सबका यथोचित स्वागत किया। सभी अतिथियों के सहयोग से वह यज्ञ भली-भांति संपन्न हो गया। यज्ञ के अंत में, अभिषेक होना बाक़ी था। उस दिन सत्कार की परंपरा थी। समस्त ब्राह्मण, महर्षि और पूज्यगण वहाँ एकत्रित थे। सत्कार से पहले, युधिष्ठिर के समक्ष एक दुविधा उत्पन्न हो गई।

वहाँ उपस्थित सभी लोग वंदनीय थे, इस कारण युधिष्ठिर के लिए यह तय कर पाना कठिन हो गया कि उन सब लोगों में किसकी अग्रपूजा की जाए! बहुत सोच-विचार के बाद भी जब युधिष्ठिर किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाया तो उसने भीष्म के समक्ष अपनी दुविधा व्यक्त की।

“पितामह! कृपया आप बताइए कि इन समागत सज्जनों में आप किसे सर्वश्रेष्ठ एवं अग्रपूजा के योग्य समझते हैं? मुझे सबसे पहले किसकी पूजा करनी चाहिए?”

गंगा-पुत्र भीष्म ने निस्संकोच उत्तर दिया, “धर्मराज! यहाँ समागत सदस्यों में एक ही व्यक्ति है, जो छोटे-छोटे तारों के बीच सूर्य की भांति देदीप्यमान है!”

“मैं समझा नहीं पितामह! आप किसकी बात कर रहे हैं?” युधिष्ठिर ने इधर-उधर से देखते हुए पूछा।

“पुत्र युधिष्ठिर,” भीष्म ने कृष्ण की ओर देखते हुए कहा, “मेरे विचार से यदुवंश शिरोमणि श्रीकृष्ण यहाँ उपस्थित सदस्यों में सर्वश्रेष्ठ हैं और वही अग्रपूजा के उपयुक्त पात्र हैं!”

मैंने देखा, लगभग सभी लोगों ने भीष्म की बात पर अपनी स्वीकृति व्यक्त की। भीष्म के उत्तर से प्रसन्न एवं संतुष्ट होकर ज्यों ही युधिष्ठिर पूजा की सामग्री लेकर कृष्ण की ओर बढ़ा, तभी चेदिराज शिशुपाल, चिढ़कर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ।

“युधिष्ठिर! बड़े-बड़े महात्माओं और राजर्षियों की उपस्थिति में कृष्ण की अग्रपूजा करने का क्या औचित्य है? कृष्ण राजा न होते हुए भी राजाओं के बीच सम्मान पाने का अधिकारी कैसे हो सकता है? यह आयु में वृद्ध नहीं है और अभी इसके पिता वसुदेव भी जीवित हैं, तो फिर इसकी अग्रपूजा क्यों हो रही है? यदि तुम इसे अपना हितैषी मानकर कृष्ण की अग्रपूजा कर रहे हो तो क्या यह तुम्हारे लिए राजा द्रुपद से भी बढ़कर है? यदि तुम कृष्ण को अपना आचार्य मानते हो तो भी द्रोणाचार्य की उपस्थिति में इसका सम्मान सर्वथा अनुचित है। यदि ऋत्विज की दृष्टि से देखें तो सबसे पहले पूजा महर्षि वेदव्यास की होनी चाहिए। और अंतिम बात यह कि पितामह भीष्म के रहते, कृष्ण की अग्रपूजा करने का विचार भी तुम्हारे तुच्छ दिमाग़ में कैसे आया?”

शिशुपाल की इस आपत्ति ने वहाँ उपस्थित लोगों को चिंता में डाल दिया। भीष्म पितामह का चेहरा क्रोध से तमतमा गया। उन्होंने ग़ुस्से से शिशुपाल की ओर देखा किंतु शिशुपाल निर्लज्ज बना बैठा रहा। जब उसने देखा कि उसकी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो उसने मेरा नाम ले लिया।

“युधिष्ठिर!” शिशुपाल गरजा, “शास्त्र-पारदर्शी और महावीर अश्वत्थामा की उपस्थिति में कृष्ण की अग्रपूजा समस्त महावीरों का अपमान है। मैं इसकी घोर निंदा करता हूँ!”

शिशुपाल धृष्ट होने के साथ-साथ मूर्ख भी था। उसने मेरा नाम बीच में डालकर, मुझे भी उस विवाद में घसीट लिया। मेरे पिता द्रोण व मामा कृपाचार्य समेत सब लोग अचानक विचित्र ढंग से मेरी ओर देखने लगे। कृष्ण का अग्रपूजा के योग्य होना अथवा न होना विवाद का विषय हो सकता था, किंतु उस समय मुझे लगा कि मेरी निष्ठा दाँव पर थी। मुझे डर था कि कहीं लोगों को यह भ्रम न हो जाए कि शिशुपाल द्वारा मेरे नाम के प्रस्ताव में मेरी भी

सहमति है। इसलिए मेरे लिए वहाँ अपनी स्थिति को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया।

मैंने धीरे से उठकर उतना ही कहा, जितना उस क्षण के लिए आवश्यक था। "मैं चेदिराज शिशुपाल की बात से सहमत नहीं हूँ। मुझे वासुदेव कृष्ण की अग्रपूजा पर कोई आपत्ति नहीं है!" इतना कहकर मैं अपने स्थान पर बैठ गया। मेरे पिता मुझे देखकर धीमे-से मुस्कराए। मैंने उनकी मुस्कान में अपने प्रति गर्व का पुट देख लिया था। मैंने जो किया, उससे मैं प्रसन्न था।

शिशुपाल, अपना दाँव बेकार जाता देखकर तिलमिलाया और बोला, "युधिष्ठिर, क्या तुम्हें राजाधिराज दुर्योधन, भरतवंश के कुलगुरु कृपाचार्य, सर्वगुण संपन्न आचार्य द्रुम दिखाई नहीं दिए? यदि तुम्हें इस प्रकार स्वेच्छा से ही कृष्ण की अग्रपूजा करनी थी तो इन सब राजाओं और महात्माओं को बुलाकर तुमने इनका अपमान क्यों किया? तुम जैसे धर्मात्मा को क्या इस तरह धर्म की राह से भटकना शोभा देता है?" शिशुपाल, उपस्थित सदस्यों को युधिष्ठिर के विरुद्ध भड़काने का हर संभव प्रयास कर रहा था।

युधिष्ठिर ने शिशुपाल को आश्चर्य से देखा। शिशुपाल का क्रोध बढ़ता जा रहा था। जब उसने देखा कि इतना बोलने पर किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया तो उसने सीधे कृष्ण का रुख किया।

"अरे कृष्ण!" वह चीख़ा, "यदि युधिष्ठिर ने कायरतावश तुम्हारी पूजा का प्रस्ताव कर दिया तो भी, तुम्हें स्वयं सोचना चाहिए कि तुम इसके योग्य हो भी अथवा नहीं! जिस तरह कुत्ता लुक-छिपकर कहीं से तनिक घी चाट ले तो स्वयं को धन्य समझने लगता है, उसी तरह क्या तुम भी इन मूर्ख पांडवों के हाथों अग्रपूजा द्वारा स्वयं को वंदनीय समझ रहे हो? क्या गंगापुत्र भीष्म की तरह तुम्हारी भी बुद्धि कुंठित हो गई है?"

युधिष्ठिर से भीष्म और कृष्ण का अपमान सहन नहीं हुआ। वह बोला, "राजा शिशुपाल! अब आप अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहे हैं। यहाँ पितामह भीष्म से बड़ा तत्व-वेत्ता कोई नहीं है। जब उन्होंने स्वयं कृष्ण की अग्रपूजा का प्रस्ताव रखा है तथा किसी को कोई आपत्ति नहीं है तो फिर आपको इसमें आपत्ति क्यों है? आपको यह पता होना चाहिए कि इस संसार में ज्ञान एवं बल में कृष्ण से बढ़कर कोई नहीं है। वह समस्त सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय के स्थान हैं। वे जन्म लेने तथा मृत्यु को प्राप्त होने वाले पदार्थों से परे हैं। वे हमारे आचार्य, पिता और गुरु भी हैं।" इसके बाद भीष्म और सहदेव ने भी कृष्ण के पक्ष में अपनी-अपनी बात रखी।

इसी बीच मेरी नज़र दुर्योधन पर गई। उसके चेहरे के भाव बतला रहे थे कि वह कृष्ण और युधिष्ठिर के हो रहे अपमान पर प्रसन्न था हालांकि उसमें इतना साहस नहीं था कि वह सार्वजनिक रूप से खड़ा होकर शिशुपाल की बात का समर्थन कर पाता।

शिशुपाल की आँखों से ज्वाला निकल रही थी। उसके सिर पर ख़ून सवार था। वह भीष्म की ओर मुड़ा और चिल्लाने लगा, "इस मूर्ख और घमंडी कृष्ण की प्रशंसा करते-करते

तुम्हारी जीभ नहीं थकती? जिसने बचपन में ही एक स्त्री (पूतना) की हत्या कर दी, एक निर्दोष पक्षी (बकासुर), एक घोड़े (केशी दैत्य) और एक बैल (वृषभासुर) को मार डाला, तुम उसे जगतपति कहते हो? तुम ऐसे निर्मम हत्यारे की पूजा करना चाहते हो? इस व्यक्ति ने अपने मामा कंस का नमक खाया और फिर उसी को मार डाला। ऐसे कृतघ्न व्यक्ति की अग्रपूजा के लिए तुम इतने लालायित क्यों हो? तुम स्वयं को ब्रह्मचारी कहते हो, किंतु काशी नरेश की एक, दो नहीं अपितु तीन-तीन कन्याओं का एक साथ हरण कर लाए! सच तो यह है कि तुम्हारे जैसा नपुंसक, पुरुषार्थहीन और वृद्ध सलाहकार होने के कारण ही पांडवों की मति भ्रष्ट हो गई है और इसीलिए वे इस ग्वाले की पूजा करना चाहते हैं!"

"बस करो शिशुपाल!" श्रीकृष्ण के कठोर स्वर से सभा गूँज उठी। श्रीकृष्ण ने समस्त सभासदों को संबोधित करते हुए कहा, "सच क्या है, मैं आप सबको बताता हूँ! सच यह है कि यह दुष्ट शिशुपाल जन्म से ही विकृत है। जब यह पैदा हुआ तो इसके तीन नेत्र थे और चार भुजाएँ थीं। पैदा होते ही यह गधे की तरह रेंकने लगा था। उस समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि जिसकी गोद में इसकी दोनों भुजाएँ तथा तीसरी आँख हट जाएँ, उसी के हाथों इसकी मृत्यु होगी। इसके जन्म के समय, मैं अपने बड़े भाई बलराम के साथ इसे देखने गया था। संयोग से मेरी ही गोद में इसके दोनों हाथ और तीसरी आँख हटे। तब इसकी माँ तथा मेरी बुआ ने मुझसे इसके प्राणों की भिक्षा माँगी थी। मैंने तब उन्हें यह वचन दिया कि मैं इसे एक सौ ऐसे अपराधों के क्षमा कर दूँगा, जिनके लिए इसे मृत्यु-दंड मिलना चाहिए!"

शिशुपाल ने यह सुना तो ठठाकर हँस पड़ा। "तो कृष्ण, अब तुम मुझे यह कहकर डराना चाहते हो कि तुम मुझे मारोगे?"

कृष्ण ने शिशुपाल को संबोधित करते हुए अपनी बात जारी रखी, "शिशुपाल! तुमने यदुवंशियों का सर्वनाश करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। मेरे प्राग्ज्योतिषपुर जाने के बाद, तुमने पीछे से द्वारकापुरी को जलाकर नष्ट करने का प्रयास किया। तुमने मेरे पिता के अश्वमेध यज्ञ के अश्व को पकड़कर उनका यज्ञ भी भंग करने की कोशिश की। तुमने यदुवंशी तपस्वी वभ्रु की पत्नी का हरण किया। तुम्हारी अपनी ममेरी बहिन भद्रा तपस्या कर रही थी, किंतु तुमने छल से रूप बदलकर उसका भी हरण कर लिया। मैं तुम्हारी नीच बातें बहुत देर से सुन रहा हूँ। शिशुपाल, मैं तुम्हें डरा नहीं रहा, अपितु चेतावनी दे रहा हूँ कि तुम अब तक पितामह भीष्म सहित बहुत-से वृद्ध एवं वंदनीय लोगों का घोर अपमान कर चुके हो। इस प्रकार, अब तक तुमने निन्यान्वे ऐसे अपराध कर लिए हैं जिनके लिए तुम्हें मृत्यु-दंड दिया जा सकता था। एक सौ की गिनती पूर्ण होने में अब केवल एक अपराध शेष है। यदि तुमने एक भी ऐसा अपराध और किया तो...!"

"मूर्ख कृष्ण!" शिशुपाल ने हँसते हुए कृष्ण की बात काट दी। "मैं तुझ जैसे घमंडी ग्वाले के क्रोध से भयभीत होने वाला नहीं हूँ..." अभी शिशुपाल की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि कृष्ण के हाथ से उनका सुदर्शन चक्र निकला और अगले ही क्षण शिशुपाल का कटा हुआ सिर लुढ़कता हुआ मेरे पैरों के पास आ गया। मैंने दृष्टि उठाकर देखा तो चक्र उनके हाथ में

लौट चुका था। यह सब इतनी जल्दी हुआ कि अधिकतर लोगों ने केवल शिशुपाल के सिर को धरती पर गिरते देखा होगा। अगले ही पल, शिशुपाल के धड़ से सूर्य के समान चमचमाती ज्योति निकली और देखते-देखते कमल-लोचन श्रीकृष्ण में विलीन हो गई। मेरे लिए यह श्रीकृष्ण के ईश्वरीय रूप का प्रथम दर्शन था!

दुर्योधन इस दृश्य से स्तब्ध था। उसके चेहरे पर आश्चर्य का भाव आया और फिर अचानक वह शांत हो गया। उसने अवश्य सोचा होगा कि अच्छा हुआ जो उसने शिशुपाल की बात का समर्थन नहीं किया! कुछ ही देर में शास्त्रोचित विधि से युधिष्ठिर ने कृष्ण की अग्रपूजा एवं अर्चना पूरी कर दी।

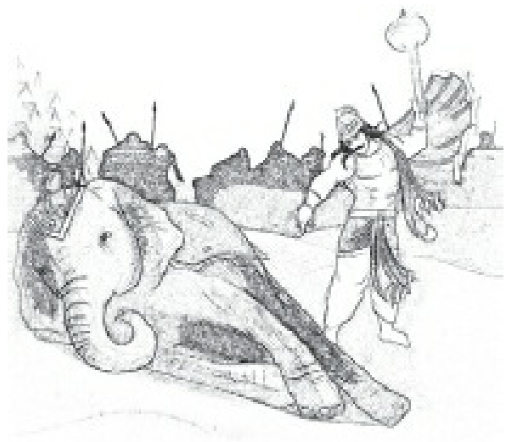

14

युधिष्ठिर को जहाँ एक ओर राजसूय यज्ञ संपन्न करने की ख़ुशी थी, वहीं उसे इस बात का दुख भी था कि यज्ञ का अंत शिशुपाल-वध जैसी दुर्भाग्यपूर्ण एवं रक्त-रंजित घटना से हुआ। यज्ञ पूर्ण होने के बाद शेष राजागण तो अपने-अपने राज्यों को लौट गए किंतु दुर्योधन और शकुनि ने कुछ दिन इंद्रप्रस्थ में रुककर पांडवों का राजमहल तथा उनके वैभव का आकलन करने का निश्चय किया।

युधिष्ठिर का राजमहल, साधारण महल नहीं था। उसमें राजमहलों में सामान्यतया दिखने वाले वैभव एवं संपन्नता की चमक होने के अतिरिक्त, कुछ ऐसा भी था जो दुर्योधन ने पहले नहीं देखा था। महल में रखी चीज़ों के रंग और स्थान अपने आप बदल जाया करते थे। इस कारण वह महल प्रतिदिन उन्हें नया-सा प्रतीत होता था। महल के गलियारे दिन में रत्नों की दीप्ति से चमचमाते थे और रात्रि में वहाँ किसी अतिरिक्त रोशनी की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि उन रत्नों से निकलने वाला प्रकाश गलियारों को रोशन किए रखता था। इससे पूरे महल में छोटे-छोटे दीपकों के जलने का शानदार आभास होता था। महल की दीवारें पारदर्शी स्फटिक की बनी थीं। उस विन्यास से अनजान किसी व्यक्ति के लिए चलते-

चलते उन दीवारों से टकरा जाना सामान्य बात थी। महल के मध्य में बना आंगन भी स्फटिक का था, जो पानी का बिंब प्रस्तुत करता था। पहली बार आने वाला प्रत्येक व्यक्ति आंगन में पैर रखने से पहले, इस डर से अपने वस्त्र उठा लेता था कि उसके वस्त्र गीले न हो जाएँ! इसके विपरीत, महल के पिछले भाग में एक उद्यान था जिसमें एक भाग ऐसा था जो ठोस पत्थर का बना दिखाई पड़ता था, किंतु वास्तव में उस स्थान पर एक छोटा-सा सरोवर था। इसका परिणाम यह होता था कि वहाँ आने वाला व्यक्ति उस जगह को पत्थर का समझकर आगे बढ़ता और बेचारा वहाँ बने सरोवर में गिर जाता था। उद्यान के सामने बने बुर्ज पर खड़ी रानियाँ तथा उनकी दासियाँ अनजान लोगों को सरोवर में गिरते देखकर हँसती थीं। महल के निर्माता ने प्रत्येक वस्तु और स्थान पर मानो तिलस्म की पर्त चढ़ा रखी थी। वह पर्त तो किसी को नहीं दिखती थी किंतु उसके मायावी प्रभाव से कोई नहीं बच पाता था। पांडवों का वह महल, वहाँ रहने वाले लोगों के लिए प्रतिदिन के मनोरंजन का साधन बन गया था।

दुर्योधन और शकुनि दिन-भर घूमते रहते और उस महल की आश्चर्यचकित करने वाली विशेषताओं को देखकर मन-ही-मन कुढ़ते थे। ऐसे ही एक दिन, जब द्रौपदी अपनी सखियों के साथ उद्यान में टहल रही थी तो उसने देखा कि दुर्योधन और शकुनि, भूल से उद्यान में बने छद्म सरोवर में गिर पड़े और उनके वस्त्र गीले हो गए।

यह दृश्य देखकर द्रौपदी को हँसी आ गई और उसने खिलखिलाते हुए अपनी सखियों से कहा, “देखो, अंधे का पुत्र भी अंधा है!” यद्यपि द्रौपदी को ऐसा कहने के बाद, अपनी भूल का एहसास अवश्य हुआ होगा किंतु उसने इसे अधिक गंभीरता से नहीं लिया और इसलिए, उसके मन में दुर्योधन से उन अपमानजनक शब्दों के लिए क्षमा माँगने का विचार भी नहीं आया।

पानी में गिरने से गीले हुए वस्त्र तो बदले जा सकते थे किंतु द्रौपदी के मुँह से जो बात निकल गई थी, उसे लौटा पाना संभव नहीं था। द्रौपदी के कटाक्ष ने दुर्योधन के हृदय को भीतर तक छलनी कर दिया।

“इस महल में रुककर हम अपना अपमान नहीं करवाएँगे और कल ही हस्तिनापुर लौट जाएँगे,” दुर्योधन ने क्रोधित होकर शकुनि से कहा।

“बिलकुल भांजे!” शकुनि बोला, “अब यहाँ रुकने का कोई औचित्य नहीं है।”

दुर्योधन ने कुछ सोचते हुए कहा, “लेकिन मामाजी, जाने से पूर्व मेरी यह जानने की इच्छा है कि युधिष्ठिर का यह विचित्र मायावी महल किसने बनाया है?”

अगले दिन, वे दोनों युधिष्ठिर के पास गए। दुर्योधन बोला, “महाराज युधिष्ठिर, यहाँ रहकर हम लोगों ने बहुत आनंद से दिन बिताए हैं। अब हमें आज्ञा दीजिए। हम हस्तिनापुर लौटना चाहते हैं। परंतु जाने से पहले, कृपया यह बताएँ कि आपका यह शानदार और आश्चर्यजनक महल किसने बनाया है?”

युधिष्ठिर मुस्कराया मानो दुर्योधन को विदा करने के लिए तैयार ही बैठा था।

"प्रिय दुर्योधन," युधिष्ठिर बोला, "यदि तुम यहाँ कुछ दिन और रहते तो मुझे बहुत अच्छा लगता किंतु मैं जानता हूँ कि हस्तिनापुर में तुम्हारे बिना तातश्री भी अकेले हो जाएँगे, इसलिए मैं तुमसे रुकने का आग्रह नहीं करूँगा। जहाँ तक इस महल का प्रश्न है, इसे दानवों के विश्वकर्मा और प्रधान शिल्पकार मय नामक दानव ने बनाया है। कुछ समय पूर्व, कृष्ण और अर्जुन ने मिलकर अग्निदेव का अजीर्ण दूर करने के लिए खांडव वन का दाह किया था। उस समय मय दानव उसी वन में छिपा हुआ था। तब अर्जुन ने मय के प्राणों की रक्षा की थी। कृष्ण ने भी अग्निदेव को इंद्र के प्रकोप से बचाया था। उसी उपकार के बदले में मय ने हमारे लिए इस महल का निर्माण किया तथा अग्निदेव ने अर्जुन से प्रसन्न होकर उसे गांडीव धनुष दिया। अग्निदेव ने ही कृष्ण को वह सुदर्शन-चक्र भी दिया था जिसकी धार, तुम राजसूय यज्ञ में शिशुपाल पर देख चुके हो।"

दुर्योधन तथा शकुनि को पांडवों की उपलब्धियों को देखकर बुरी तरह ईर्ष्या हो रही थी। उन्होंने युधिष्ठिर को प्रणाम किया और बिना कुछ कहे हस्तिनापुर के लिए कूच कर गए। इंद्रप्रस्थ से लौटते समय, दुर्योधन अपने साथ दो इच्छाएँ ले जा रहा था - एक, द्रौपदी द्वारा हुए अपमान की पीड़ा का प्रतिशोध लेने की इच्छा तथा दूसरी, पांडवों का राज्य और मायावी महल हड़पने की इच्छा!

शकुनि द्यूत के पाँसे डालने में जितना माहिर था, वह सामने वाले व्यक्ति के भाव पढ़ने में भी उतना ही तेज़ था। उसने दुर्योधन की मुद्रा और उसके चेहरे के हाव-भाव देखकर तत्काल यह जान लिया कि दुर्योधन के मन में अपमान की फाँस चुभ चुकी थी। वह समझ गया कि दुर्योधन की बुद्धि भ्रष्ट करने का यही उचित अवसर था।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि शकुनि को दुर्योधन से दुष्कर्म करवाने अथवा उसे भड़काने से क्या लाभ हुआ होगा। इस संदर्भ में, मेरा अपना यह मानना है कि शकुनि को अपनी बहन गांधारी का अंधे धृतराष्ट्र से विवाह किया जाना पहले दिन से ही पसंद नहीं आया था और दुर्योधन को भड़काकर पारिवारिक क्लेश एवं भाइयों के बीच झगड़ा करवाने से कपटी शकुनि के मन को कुछ शांति मिली होगी। गांधारी और धृतराष्ट्र के विवाहोपरांत जब शकुनि, हस्तिनापुर आ गया और उसने पहली बार, दुर्योधन के भीतर पांडवों के विरुद्ध जल रही चिंगारी को महसूस किया, उसने तभी से उस चिंगारी को भड़काकर ज्वाला का रूप देना आरंभ कर दिया। अपनी बहन के साथ हुए अन्याय का बदला लेने का यह कपटी दुष्ट शकुनि का बहुत विचित्र और घिनौना तरीक़ा था!

शकुनि अपनी उल्लू जैसी गोल आँखें नचाते हुए बोला, "दुर्योधन! मैं तुम्हारे मन में व्याप्त क्षोभ को समझ सकता हूँ परंतु तुम बिलकुल चिंता मत करो। मैंने तुम्हारे दुख को ख़ुशी में बदलने का उपाय सोच लिया है। तुम जिन दो इच्छाओं को मन में लेकर आए हो, वह शीघ्र ही पूरी हो जाएँगी।"

“छोड़िए मामाजी,” दुर्योधन ने चिढ़ते हुए कहा, “आप सिर्फ़ बातें करते हैं, आपसे कुछ होता तो है नहीं!”

“प्रिय दुर्योधन,” शकुनि ने अपना ग़ुस्सा दबा लिया, “तुम किसी तरह अपने नेत्रहीन पिता से कहलवाकर पांडवों को एक बार हस्तिनापुर में द्यूत खेलने के लिए बुलवा लो। फिर देखना, मेरा कमाल!”

“... किंतु मामाजी, मैं पांडवों के साथ द्यूत कैसे खेलूँगा? मुझे तो ठीक से पाँसे डालना भी नहीं आता।”

“मैं हूँ न!” शकुनि ने होंठ दबाते हुए कहा, “दाँव तुम लगाना और मैं तुम्हारे लिए पाँसे फेंकूँगा!”

दुर्योधन मूर्ख तो था किंतु इतना भी नहीं, जो शकुनि की इस बात का आशय न समझ पाता! यह सुझाव सुनते ही उसके चेहरे पर प्रसन्नता छा गई।

हस्तिनापुर पहुँचते ही शकुनि और दुर्योधन ने पांडवों के वैभव और द्रौपदी की धृष्टता की बात बढ़ा-चढ़ाकर धृतराष्ट्र को कह सुनाई और साथ-साथ द्यूत वाली योजना भी बता दी। धृतराष्ट्र स्वयं भी पांडवों से चिढ़ता था। उसे शकुनि की कपट-भरी चाल पसंद आ गई। उसने तुरंत विदुर को बुलाकर इंद्रप्रस्थ जाने तथा पांडवों को द्यूत के लिए आमंत्रित करने को कहा। यह प्रस्ताव विदुर को पसंद नहीं आया किंतु वे राजा की आज्ञा के सामने विवश थे। मुझे विश्वास है कि पांडवों के हितैषी होने के नाते, विदुर ने अवश्य ही युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र के निमंत्रण के पीछे छिपे षड्यंत्र से अवगत करवाया होगा परंतु सरल-हृदय युधिष्ठिर के लिए धृतराष्ट्र की अवज्ञा अधर्म से कम नहीं थी! पांडव अनिच्छा से हस्तिनापुर आ पहुँचे और द्यूत के लिए बिसात बिछ गई।

दुर्योधन ने खेल शुरू होने से पहले ही धृतराष्ट्र को स्पष्ट कह दिया, “महाराज, मैं इस खेल में दाँव लगाऊँगा किंतु मेरे लिए पाँसे शकुनि मामा डालेंगे।” ऐसा कोई नियम नहीं था, किंतु ऐसा न करने का भी कोई नियम नहीं था! धृतराष्ट्र ने गर्दन हिलाकर दुर्योधन को अनुमति दे दी और विवशता में, इसी शर्त पर वह खेल आरंभ हो गया।

शकुनि पाँसों का जादूगर था। वह जैसे चाहता था, पाँसे वैसे ही गिरते थे। शकुनि पाँसे डालता गया और युधिष्ठिर हारता चला गया। युधिष्ठिर ने पहले अपने मणिमय हार और स्वर्ण मुहरों को दाँव पर लगाया और उन्हें हार गया। फिर उसने अपना धन-भंडार दाँव पर लगा दिया, और उसे भी हार बैठा। शकुनि ने अपने पाँसों की शक्ति से कुछ ही देर में युधिष्ठिर को कंगाल बना दिया। उसका धन, वैभव, संपत्ति सब दुर्योधन ने जीत लिए।

खेल चलता रहा। युधिष्ठिर की हालत मरणासन्न व्यक्ति जैसी हो गई। अपना सर्वस्व हारने के बाद, युधिष्ठिर ज्यों ही उठने को हुआ तो शकुनि ने उसे फिर उकसाया, “युधिष्ठिर, यह द्यूत का खेल है। इसमें कभी भी, कुछ भी हो सकता है। जो धन तुम इस खेल में हार गए

हो, उसे इसी खेल से वापस जीत भी सकते हो!”

“परंतु,” युधिष्ठिर ने कहा, “मेरे पास अब दाँव पर लगाने के लिए कुछ शेष नहीं है।”

“ऐसा मत कहो, प्रिय युधिष्ठिर!” शकुनि की कुटिलता चरम पर थी। “अभी तो तुम्हारे पास वो शानदार मायावी-महल है, इतना बड़ा इंद्रप्रस्थ राज्य है!”

भीम ने युधिष्ठिर को इशारे से रोका। परंतु युधिष्ठिर कुटिल शकुनि की चाल में फँस चुका था। उसने हामी भर दी। शकुनि ने बिना देर किए पाँसे फेंक दिए। युधिष्ठिर अपना महल और इंद्रप्रस्थ राज्य भी गँवा बैठा। भीम ने अपना सिर पकड़ लिया। दुर्योधन की एक इच्छा पूरी हो गई थी!

द्यूत का खेल धीरे-धीरे विकराल रूप लेता जा रहा था। विदुर और भीष्म ने अनेक बार युधिष्ठिर को समझाया कि वह खेल को छोड़कर उठ जाए किंतु युधिष्ठिर की बुद्धि भी कुछ समय के लिए भ्रष्ट हो गई। वह बैठकर दाँव खेलता रहा। विदुर ने धृतराष्ट्र से भी खेल को बंद करवाने का आग्रह किया, किंतु यह पहला मौक़ा था जब धृतराष्ट्र, बंद आँखों से अपने पुत्र की ख़ुशी देख पा रहा था!

शकुनि ने बड़े प्रेम से युधिष्ठिर के सिर पर हाथ फेरा और कहा, “युधिष्ठिर, यूँ हिम्मत न हारो! तुम एक महान और प्रतापी राजा हो। द्यूत में विजय उसी की होती है, जिसके पास धैर्य होता है और तुम तो धैर्य की प्रतिमा हो, वत्स!”

युधिष्ठिर ने शकुनि को देखकर पूछा, “लेकिन अब मेरे पास दाँव पर लगाने के लिए कुछ नहीं है, मैं खेलूँ कैसे?”

शकुनि ने मुस्कराते हुए दुर्योधन को देखा और युधिष्ठिर से कहा, “अपने इन भाइयों को देखो, युधिष्ठिर! जब तक ये तुम्हारे पास हैं, तुम हार नहीं सकते। तुम चाहो तो अपने भाइयों को दाँव पर लगा सकते हो। यदि जीत गए तो तुम्हें सबकुछ वापस मिल जाएगा।”

अर्जुन ने झटके से अपने भाई युधिष्ठिर को देखा, लेकिन तब तक देर हो चुकी थी। युधिष्ठिर हामी भरकर दाँव लगा चुका था। शकुनि ने पाँसे डाले और फिर वही हुआ जो इतनी देर से हो रहा था। यह दाँव भी युधिष्ठिर हार गया। इस प्रकार, युधिष्ठिर ने स्वयं को तथा अपने चारों भाइयों को दाँव पर लगा दिया और एक-एक करके वे पाँचों दुर्योधन की संपत्ति का हिस्सा बन गए।

“मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। आज से, मैं और मेरे चारों भाई दुर्योधन के दास हुए!” युधिष्ठिर ने बहुत चेष्टा की लेकिन वह अपने आँसू नहीं रोक पाया।

“निराश क्यों होते हो प्रिय युधिष्ठिर!” शकुनि बोला, “यह तो खेल ही ऐसा है। इसमें व्यक्ति पराजित होकर भी जीत जाता है... और फिर तुम अब भी सबकुछ नहीं हारे हो! द्रौपदी को भूल गए क्या?”

इसके बाद जो हुआ, उसे बताते भी मुझे लज्जा आती है। गले तक हताशा में डूबे युधिष्ठिर ने किसी अप्रत्याशित परिणाम की आशा में द्रौपदी को दाँव पर लगाकर अंतिम दाँव खेल दिया। जब तक पाँसे शकुनि के हाथ में थे, तब तक द्यूत के खेल में कुछ भी अप्रत्याशित नहीं था। युधिष्ठिर दाँव हार गया और द्रौपदी भी दुर्योधन की संपत्ति बन गई। उस समय, युधिष्ठिर से अधिक कंगाल व्यक्ति शायद संसार भर में कोई नहीं था।

मैं कदापि उस कुटिल और गंदे खेल का हिस्सा नहीं बनना चाहता था किंतु किसी कृत्य के द्रष्टा का उत्तरदायित्व भी उस कृत्य के कर्ता के लगभग समान होता है। इसलिए, मैं चाहकर भी स्वयं को उस त्रासद दृश्य से अलग करके नहीं देख सकता।

“दुश्शासन, जाओ और द्रौपदी को सभा में घसीट लाओ!” दुर्योधन गरजा। पांडव समेत सारा राजदरबार स्तब्ध रह गया। इससे पहले, कोई कुछ कह पाता, दुश्शासन रनिवास की ओर दौड़ पड़ा।

द्रौपदी और दुश्शासन के मध्य, रनिवास में क्या बात हुई यह तो मुझे नहीं पता किंतु कुछ ही देर बाद मैंने देखा कि दुश्शासन बेचारी द्रौपदी को बालों से पकड़कर निर्लज्जता से घसीटता हुआ कुरु राजसभा में ले आया। द्रौपदी का रोम-रोम काँप रहा था। उसका शरीर झुक गया था और वह खिंची जा रही थी।

“अरे दुरात्मा दुश्शासन! मैं रजस्वला हूँ और इस समय एक ही वस्त्र पहने हुए हूँ। मूर्ख, कुछ तो शर्म कर!” कृष्णा चीख़ रही थी।

द्रौपदी का आर्त स्वर सुनकर भीम खड़ा हो गया। उससे द्रौपदी का अपमान सहन नहीं हो रहा था, परंतु युधिष्ठिर ने हाथ पकड़कर उसे भी रोक लिया। “हम अब दुर्योधन के दास हैं भीम! बैठ जाओ।”

“चुप रह घमंडी औरत!” दुर्योधन चिल्लाया, “तूने सबके सामने मुझे अंधे का पुत्र अंधा कहा था! तब तुझे शर्म नहीं आई? तेरा यह मूर्ख पति तुझे द्यूत में हार चुका है। अब तू रजस्वला हो या एकवस्त्रा, तू मेरी दासी है। दुश्शासन! इस अहंकारी स्त्री के तन का यह आख़िरी वस्त्र भी उतार लो और इसे नग्न करके मेरी जँघा पर बैठाओ। मैं बहुत दिन से इसके हाथों हुए अपमान की अग्नि में जल रहा हूँ। इसके रूप को ज़रा निकट से देखूँगा, तो मेरी यह जलन शांत होगी!” शकुनि ने अपने पाँसों की सहायता से दुर्योधन की दूसरी इच्छा भी पूरी कर दी थी!

दुर्योधन का इतना कहना था कि दुश्शासन ने द्रौपदी का चीर पकड़ लिया। वह चीख़ती रही, चिल्लाती रही परंतु दुश्शासन ने उसका वस्त्र नहीं छोड़ा। दुश्शासन चीर को जितना ज़ोर से खींच रहा था, द्रौपदी भी उसे उतने ही ज़ोर से थामे हुए थी। उस एक वस्त्र पर द्रौपदी और कुरुवंश की, मर्यादा टिकी हुई थी!

भीष्म पितामह की नम आँखों के बीच, धृतराष्ट्र की राजसभा दुर्योधन, कर्ण और

शकुनि के निर्लज्ज ठहाकों से गूँज रही थी। विदुर रो रहे थे और धृतराष्ट्र से बार-बार इस जघन्य कृत्य को रोकने की प्रार्थना कर रहे थे। पुत्र-मोह और राजमुकुट के प्रति अतिशय लगाव ने नेत्रहीन धृतराष्ट्र को गूँगा और बहरा भी बना दिया था! वह अपनी अयोग्यता को नेत्रहीनता के पर्दे के पीछे छिपाने का असफल प्रयास कर रहा था। यथा राजा, तथा प्रजा! मैं, मेरे पिता द्रोण और मामा कृपाचार्य मन-ही-मन दुखी होने के सिवाय क्या कर सकते थे!

द्रौपदी ने जब भीष्म और द्रोण जैसे महावीरों को सिर झुकाए असहाय अवस्था में बैठे देखा तो उसके पास अपने सखा श्रीकृष्ण को पुकारने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। अपने शील को बचाने के लिए जो वस्त्र उसने पकड़ रखा था, उसने वह छोड़ दिया। वह पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित हो गई।

कहते हैं, ईश्वर केवल समर्पण चाहता है। मनुष्य अगर स्वयं को पूरी तरह ईश्वर के श्रीचरणों में समर्पित कर दे, तो दस दुर्योधन मिलकर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। कुरु राजसभा में यही हुआ! जैसे ही द्रौपदी ने वस्त्र छोड़ा तथा हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण का स्मरण किया, तो मैंने और पूरी सभा ने वह देखा जिसकी कल्पना करना भी संभव नहीं है।

दुश्शासन दोनों हाथों से द्रौपदी की साड़ी खींचता जा रहा था और साड़ी खुलती जा रही थी। द्रौपदी अपने स्थान पर खड़ी 'हे कृष्ण, हे कृष्ण' बोलती हुई घूम रही थी। दुश्शासन खींचता रहा... साड़ी खुलती रही परंतु उसका अंत नहीं हुआ। खींचते-खींचते दुश्शासन के हाथ दुखने लगे, माथे से पसीना ऐसे टपक रहा था मानो वह तेज़ धूप में हल चलाकर आया हो, किंतु साड़ी समाप्त होने का नाम नहीं ले रही थी। सभा में वस्त्र का अंबार लग गया था। आख़िरकार, दुश्शासन थककर नीचे बैठ गया। ईश्वर के प्रति समर्पण की शक्ति का यह बेजोड़ दृश्य था। मैंने उस दिन दूसरी बार श्रीकृष्ण को ईश्वर रूप में देखा!

भीम का तन क्रोध से काँप रहा था। "सुन दुश्शासन!" वह गरजा, "मैं आज यह प्रण करता हूँ कि समय आने पर रणभूमि में तेरी छाती चीरकर तेरे लहू से अपनी प्यास बुझाऊँगा!" भीम की प्रतिज्ञा सुनकर सबका दिल दहल गया परंतु भीम का ग़ुस्सा अभी थमा नहीं था। वह बोला, "दुर्योधन! तूने जिस जँघा पर द्रौपदी को बैठने के लिए कहा था, मैंने यदि युद्ध में उस जँघा को नहीं तोड़ा तो मुझे कभी सद्गति न प्राप्त हो!" भीम की इन भीषण प्रतिज्ञाओं को सुनकर दुर्योधन और दुश्शासन भयभीत होकर उसे देखने लगे। स्थिति बिगड़ रही थी। भीम का क्रोध उफ़ान पर था और सब लोग पांडवों को निरंतर मिल रहे कृष्ण के सहयोग से हतप्रभ थे।

ऐसे में भीष्म के ज़ोर देने पर धृतराष्ट्र को हस्तक्षेप करना पड़ा। उसने द्रौपदी से उसके अपमान के लिए क्षमा माँगी और पूछा, "पुत्री, इस सभा में तुम्हारा अतुलनीय अपमान हुआ है। यह पाप केवल क्षमा से नहीं मिटेगा। तुम जो चाहो माँग लो। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।"

"महाराज!" द्रौपदी ने रुँधे गले से कहा, "आपकी राजसभा में आप ही के पुत्रों के

हाथों आपकी ही पुत्रवधू की लाज हरने का घिनौना प्रयास हुआ है। इस अपमान के बदले मैं यदि आपके पुत्रों को अपने पतिव्रत के तपोबल से शाप देकर भस्म कर दूँ तो भी मेरे अपमान की भरपाई नहीं हो सकती! परंतु आप मेरे लिए पिता-तुल्य हैं इसलिए आप केवल इतना कर दीजिए कि मुझे व मेरे पतियों को अपने कपटी पुत्र के दासत्व से मुक्त कर दीजिए और हमारा राज्य लौटा दीजिए।"

"इंद्रप्रस्थ की महारानी द्रौपदी की इच्छा का तत्काल पालन किया जाए!" धृतराष्ट्र ने ऐलान कर दिया। मैंने पहली बार धृतराष्ट्र को सार्वजनिक रूप से भयभीत देखा था।

मेरी दृष्टि में यह द्रौपदी का सौजन्य और कौरवों का सौभाग्य था कि उसने दुर्योधन व दुश्शासन जैसे निकृष्ट लोगों को उनके अक्षम्य अपराध के बावजूद जीवित छोड़ दिया था। जिस सभा में राजपरिवार की पुत्रवधू का उसके पतियों के सामने अपमान हुआ हो, जिस सभा में राजा और वृद्धों के समक्ष एक धर्मपरायण और रजस्वला स्त्री के बाल खींचकर उसे घसीटा गया हो और उसे नग्न करने का प्रयास किया गया हो, उस सभा में बैठे सब लोगों की छाती के लहू से भी यदि उस अबला के केश धोए जाते तो भी उस हृदय-विदारक दुर्घटना को भारतवर्ष के इतिहास के पन्नों से मिटा पाना असंभव था!

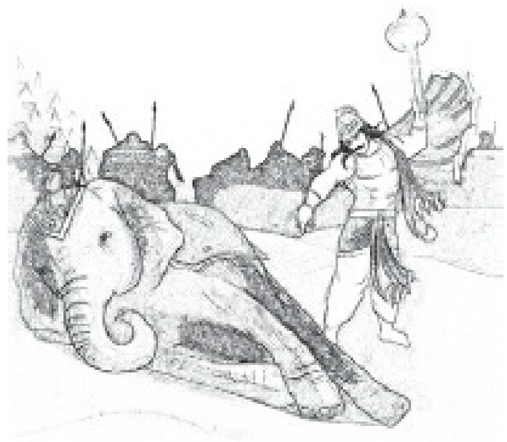

15

भीष्म के दबाव और कृष्ण की चमत्कारी लीला के चलते उस कपट-क्रीड़ा के अंत में पांडवों को उनका राज्य आदि वापस मिल गया और वे लोग शांतिपूर्वक इंद्रप्रस्थ लौट गए, किंतु मेरे मन में दो प्रश्न शेष रह गए थे - पहला, क्या कौरव-सभा में अपने और द्रौपदी के अपमान को पांडव भुला देंगे? दूसरा, क्या दुर्योधन और शकुनि द्यूत में जीतने के बाद भीष्म द्वारा उन पर थोपी गई हार का कड़वा घूँट सहजता से पी सकेंगे? मेरे दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही था - नहीं!

उधर, इंद्रप्रस्थ पहुँचते ही भीम की भुजाएँ दुर्योधन की जँघा तोड़ने तथा दुष्ट दुश्शासन की छाती का लहू पीने के लिए फड़कती रहती थीं और इधर, दुर्योधन और शकुनि, अंधे धृतराष्ट्र के साथ बैठकर दिन-रात पांडवों को दोबारा छलने व पराजित करने की धूर्ततापूर्ण योजनाएँ बनाते रहते थे।

एक दिन मुझे पता लगा कि युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ फिर से द्यूत खेलने हस्तिनापुर आ रहा है। यह भी पता लगा कि पिछली बार हुई घटना को ध्यान में रखते हुए, इस बार खेल के नियम परिवर्तित किए गए थे। यह निश्चय किया गया कि धन, राज्य अथवा

किसी व्यक्ति को दाँव पर नहीं लगाया जाएगा अपितु, हारने वाले को बारह वर्ष का वनवास और फिर एक वर्ष का अज्ञातवास काटना होगा। यदि अज्ञातवास के दौरान उसे पहचान लिया गया तो फिर से बारह वर्ष का वनवास स्वीकार करना होगा!

मुझे बाद में पता लगा कि युधिष्ठिर को यद्यपि अच्छे पाँसे डालने नहीं आते थे, तथापि उसे द्यूत खेलना बहुत पसंद था। दुर्योधन ने युधिष्ठिर की इस कमज़ोरी का फ़ायदा उठाकर उसे फिर से द्यूत के लिए आमंत्रित कर लिया था। यह भी स्पष्ट था कि दुर्योधन ने यह शर्त इसलिए रखी थी क्योंकि वह जुए में जीतकर, पांडवों को वनवास भेजकर उनका राज्य हड़प लेना चाहता था। मुझे विश्वास नहीं हुआ कि युधिष्ठिर इतनी बड़ी मूर्खता कैसे कर सकता है कि दुर्योधन के हाथों बुरी तरह हारने तथा अपमानित होने के बाद भी उसे बुद्धि नहीं आई और वह दोबारा खेलने आ पहुँचा जबकि वह पहले से जानता था कि दुष्ट शकुनि के रहते द्यूत में किसी और के लिए जीतना संभव ही नहीं था।

मैं पूरी रात यही सोचता रहा कि युधिष्ठिर ने द्यूत खेलने की यह शर्त स्वीकार क्यों की, परंतु जब मुझे इसका उत्तर नहीं सूझा तो मैं अगले दिन विदुर के पास पहुँच गया। हम दोनों के बीच कौरवों तथा पांडवों को लेकर बातचीत होती रहती थी। यद्यपि मैंने स्पष्ट तौर पर विदुर से कुछ नहीं कहा, किंतु विदुर की पारखी दृष्टि जानती थी कि उनकी भांति, मैं भी दुर्योधन का साथ देने के लिए विवश था क्योंकि गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र होने के नाते मेरी भी निष्ठा हस्तिनापुर के राजसिंहासन से बँधी हुई थी। विदुर मेरे प्रश्नों का उत्तर देने तथा मेरी आशंकाओं एवं दुविधाओं का समाधान करने में हिचकिचाते नहीं थे और संकेत द्वारा ही, पांडवों के प्रति अपना स्नेह व्यक्त कर दिया करते थे।

मेरे पिता द्रोणाचार्य और तथा मामा कृपाचार्य, धृतराष्ट्र के उपकारों के नीचे इतने दब चुके थे कि उनसे राजसी मामलों के अतिरिक्त, किसी भी प्रकार के व्यक्तिगत संवाद के द्वार लगभग बंद हो चुके थे। मुझे याद है जब कभी मैं उनसे अंधे धृतराष्ट्र और उसके मूर्ख पुत्रों के विरुद्ध कुछ कहने का प्रयास करता तो वे राजा के प्रति निष्ठा और कर्तव्यपरायणता का लंबा पाठ पढ़ाकर मुझे शांत कर दिया करते थे। यही हाल विदुर का भी था। अनेक अवसरों पर उनके साथ हुई वार्ता से मुझे यह स्पष्ट हो चुका था कि उन्हें कौरवों का आचार-विचार पसंद नहीं था तथापि, वे धृतराष्ट्र के अनुज होने के कारण खुलकर कौरव-पक्ष के विरुद्ध बोलने से झिझकते थे। यही मुख्य कारण था कि समान सोच-विचार होने के कारण, हम दोनों कभी-कभी सांकेतिक भाषा में बातचीत करके अपना मन हलका कर लेते थे। मैंने निस्संकोच विदुर के समक्ष अपनी दुविधा रख दी और पांडवों के दोबारा हस्तिनापुर आकर दुर्योधन की चाल में फँसने का कारण पूछा।

विदुर मुझे देखकर मुस्कराए और शांत भाव से बोले, “समय बहुत बलवान होता है, अश्वत्थामा! उसकी गति बेशक धीमी होती है किंतु वह अपने प्रत्येक क़दम के साथ धरती पर विध्वंस और निर्माण के निशान साथ-साथ छोड़ता चलता है। जहाँ कुछ लोग उसकी विशालता के नीचे दबकर इतिहास बन जाते हैं, वहीं उसके पद-चिह्न कुछ नवीन सभ्यताओं

का उद्गम-स्थल बनकर भी उभरते हैं। मुझे विश्वास है कि युधिष्ठिर इस बात को समझता है और वह इसीलिए हस्तिनापुर वापस आया है। समय का चक्र करवट ले रहा है, पुत्र! मैं और तुम, हस्तिनापुर में होने वाले विध्वंस तथा नवनिर्माण के केवल द्रष्टा हैं। बस, देखते रहो अश्वत्थामा!"

विदुर के कथन और शकुनि की चाल को समझ पाना सरल नहीं था। मैं केवल इतना जान पाया कि द्यूत की यह दूसरी बाजी लंबे समय से चल रहे विधि के पूर्वनियोजित नाटक का एक अंश मात्र थी और युधिष्ठिर को पता था कि उसे इस अंश में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

हस्तिनापुर की सभा में एक बार फिर द्यूत खेला गया। वहाँ किसी अप्रत्याशित घटना के होने की उम्मीद नहीं थी। ऐसा कुछ हुआ भी नहीं! युधिष्ठिर को हारना था और वह हार गया। उसने अपने भाइयों तथा पत्नी द्रौपदी के साथ बारह वर्ष का वनवास सहर्ष स्वीकार कर लिया। दुर्योधन, शकुनि और धृतराष्ट्र अति प्रसन्न थे क्योंकि उन्हें इस बात की कदापि आशा नहीं थी कि उनकी कपटपूर्ण चाल इतनी सरलता से सफल हो जाएगी।

यह सबकुछ मंच पर खेले जाने वाले किसी नाटक की भांति हो रहा था, जहाँ प्रत्येक कलाकार अपनी भूमिका तथा संवादों से भली-भांति परिचित होता है। क्या दुर्योधन की चाल सचमुच कामयाब हो गई थी? क्या युधिष्ठिर ने जान-बूझकर इस कपटी चाल में फँसना स्वीकार किया था? समय का चक्र किसका विध्वंस और किसका निर्माण करने को आतुर था? विदुर के अनुसार, इन प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए मेरे पास प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था।

पांडवों के वनवास चले जाने के बाद भी दुर्योधन एवं धृतराष्ट्र के मन में पांडवों के प्रति ईर्ष्या व द्वेष का भाव कम नहीं हुआ। दुर्योधन के गुप्तचर उसे नियमित रूप से पांडवों की खोज-ख़बर देते थे। उन दिनों पांडव द्वैतवन में कुटिया बनाकर रहते थे। एक दिन दुर्योधन ने आमोद-प्रमोद के लिए द्वैतवन जाने की इच्छा व्यक्त की। उसने मुझे और कर्ण को भी अपने साथ चलने के लिए कहा। मुझे लगा कि दुर्योधन वहाँ जाकर पांडवों को फिर परेशान करेगा। इस बात से मैं मन-ही-मन बहुत खिन्न था किंतु मैंने कभी अपनी इच्छा को अपने पिता की इच्छा और राजा की आज्ञा से अधिक महत्त्व नहीं दिया। हम दुर्योधन के साथ द्वैतवन चलने को तैयार हो गए।

द्वैतवन पहुँचकर हमने देखा कि वहाँ एक अत्यंत सुंदर सरोवर था। दुर्योधन सरोवर में स्नान और क्रीड़ा की इच्छा से रुक गया किंतु उस सरोवर में गंधर्वराज चित्रसेन पहले से जल-क्रीड़ा कर रहा था। चित्रसेन के गंधर्व सैनिकों ने दुर्योधन को रोकने का प्रयास किया तो दुर्योधन उनसे विवाद करने लगा। चित्रसेन के सैनिक भी अपने स्वामी के प्रति पूर्ण निष्ठावान थे। उन्होंने दुर्योधन को सरोवर में उतरने से साफ़ मना कर दिया। दुर्योधन में अनेक दुर्गुण थे। उनमें से एक यह था कि वह घमंडी होने के कारण, छोटी-छोटी बातों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना

लेता था।

दुर्योधन वहाँ भी अड़ गया और चित्रसेन के सैनिकों से बोला, “चित्रसेन से कहो, यदि उसे सरोवर में स्नान करना है तो पहले बाहर आकर मुझसे युद्ध करे!”

मुझे दुर्योधन की मूर्खता पर बहुत ग़ुस्सा आया। मैंने उससे धीरे-से समझाया, “दुर्योधन! हम लोग मनोरंजन के लिए आए हैं। इस सरोवर को छोड़ो, हम किसी अन्य सरोवर पर चलते हैं।”

परंतु दुर्योधन को इतनी समझ होती तो फिर बात ही क्या थी! दुर्योधन की अकड़ से गंधर्व चिढ़ गए और अगले ही पल चित्रसेन के सैनिकों ने हम पर आक्रमण कर दिया। चूंकि हम लोग द्वैतवन में विहार के लिए गए थे, तो हमारे पास न तो अधिक अस्त्र-शस्त्र थे और न ही हम किसी अकस्मात् युद्ध के लिए तैयार थे। गंधर्वों ने देखते ही देखते हमारे छोटे-से सैन्य-दल की दुर्दशा कर दी। चित्रसेन के कहने पर उन्होंने दुर्योधन को, मुझे और कर्ण को बंदी भी बना लिया। इस बीच, हमारे दल के कुछ लोग वहाँ से बचकर भाग निकले और तत्काल पांडवों की शरण में गए तथा उनको सारी बात बताई।

मेरा अनुमान है कि युधिष्ठिर को छोड़कर सभी पांडव भाइयों ने कहा होगा, “दुर्योधन जैसे कुटिल और धूर्त इंसान के साथ यही होना चाहिए! उसे वहीं गंधर्वों के हाथों मरने दो!” परंतु युधिष्ठिर की सदाशयता तथा क्षमाशील स्वभाव के कारण दुर्योधन हर बार अपने घमंड और दुष्कर्मों के बावजूद जीवित बच जाता था। कुछ ही देर में पाँचों पांडव अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर आ पहुँचे और उन्होंने गंधर्वों को ज़रा-सी देर में परास्त कर दिया। युधिष्ठिर के अनुरोध पर चित्रसेन ने हम सबको छोड़ दिया।

गंधर्वों से अपमानित होने के बाद दुर्योधन अत्यंत खिन्न था। उसके अपमान के घाव में अधिक पीड़ा इसलिए थी क्योंकि जिन पांडवों के प्राण हरने का उसने अनेक बार प्रयास किया, उन्हीं पांडवों ने अपनी वीरता से दुर्योधन के प्राणों की रक्षा की थी। वह मन-ही-मन अपनी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक पराजय पर उद्विग्न था किंतु वह अपने झूठे अभिमान की धमक में उस पराजय के पाठ को सुन नहीं सका। घमंड व लज्जा ने दुर्योधन को इतना संतप्त कर दिया कि उसने वहीं द्वैतवन में अन्न-जल त्यागकर अपने प्राणांत करने का निश्चय कर लिया। मैं, कर्ण और दुश्शासन बहुत मुश्किल से समझा-बुझाकर उसे वापस हस्तिनापुर लेकर आए। मैंने लौटकर विदुर को यह घटना सुनाई तो हम दोनों बहुत देर तक दुर्योधन की मूर्खता और उसकी दुर्दशा पर चर्चा कर हँसते रहे। हमें विश्वास था कि इतना कठोर सबक़ मिलने के बाद दुर्योधन दोबारा पांडवों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करेगा।

इस घटना के कुछ दिन बाद, महर्षि दुर्वासा अपने बहुत-से अनुयायियों के साथ हस्तिनापुर आए। महर्षि दुर्वासा अपने क्रोधी स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे और उन्हें प्रसन्न करना हथेली पर सरसों जमाने जैसा था। शाप उनकी जिह्वा की नोक पर रखा रहता था। वे इधर क्रोधित हुए और उधर शाप दिया! ऐसे ऋषिगण जितनी जल्दी शाप देते थे, प्रसन्न होने

पर, उतनी ही जल्दी उनसे वरदान मिलने की संभावना भी रहती थी। दुर्वासा को देखकर दुर्योधन की कुटिल बुद्धि ने पांडवों को क्षति पहुँचाने के लिए फिर एक कुचक्र की रचना शुरू कर दी। उसने पांडवों के विनाश के लिए क्रोधी दुर्वासा को मोहरा बनाने का जोख़िम-भरा निर्णय ले लिया।

दुर्योधन ने अपने पूरे सामर्थ्य से दुर्वासा का आदर-सत्कार करके उन्हें प्रसन्न कर लिया। दुर्वासा ने चलते समय दुर्योधन से कहा, “पुत्र दुर्योधन! मैं तुम्हारी सेवा से अति प्रसन्न हूँ, तुम जो चाहो, मुझसे माँग लो!”

दुर्योधन के मानो भाग्य खुल गए! उसे इसी क्षण की प्रतीक्षा थी।

“ऋषिवर!” दुर्योधन ने कुटिल मुस्कान छिपाते हुए कहा, “यह मेरा सौभाग्य है कि आपने मुझे सेवा का अवसर दिया। आप तो जानते हैं कि हमारे कुल में युधिष्ठिर मेरे ज्येष्ठ भाई हैं। वे इन दिनों अपने भाइयों के साथ द्वैतवन में रहते हैं। मुझे इस बात का दुख हो रहा है कि वे वनवास के कारण आपकी सेवा के पुण्य-कार्य से वंचित रह गए हैं। आप यदि मेरी सेवा से सचमुच प्रसन्न हैं और मुझे आशीर्वाद देना चाहते हैं तो मेरी केवल यही इच्छा है कि आप अपने शिष्यों के साथ एक बार मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर के पास भी जाएँ तथा उन्हें भी अपनी सेवा का सुअवसर प्रदान करें!”

“अवश्य दुर्योधन!” दुर्वासा ने भोलेपन से कहा।

“ऋषिवर!” दुर्योधन बोला, “मेरी एक और प्रार्थना है कि आप युधिष्ठिर के पास उस समय पधारें जब द्रौपदी अपने पतियों को भोजन परोसकर, स्वयं भी भोजन से निवृत्त हो चुकी हो। ताकि वे लोग भली-भांति आपका आतिथ्य-सत्कार कर सकें।”

“तुम बड़े सौम्य स्वभाव के हो दुर्योधन!” दुर्वासा बोले, “मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगा कि तुम अपने पांडव भाइयों से इतना स्नेह करते हो। मैं तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा और यहाँ से सीधे द्वैतवन जाऊँगा! तुम्हारा कल्याण हो!” ऐसा कहकर ऋषि दुर्वासा अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर से प्रस्थान कर गए।

दुर्योधन की ख़ुशी का ठिकाना नहीं था। वह जानता था कि वन में रहने के कारण युधिष्ठिर के लिए दुर्वासा का आथित्य-सत्कार करना संभव नहीं होगा और इसके फलस्वरूप दुर्वासा पांडवों से रुष्ट हो जाएँगे तथा उन्हें शाप दे देंगे। इससे यदि पांडवों की अधिक हानि नहीं होगी तो भी उनका मनोबल अवश्य टूट जाएगा। दुर्वासा के जाते ही दुर्योधन ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। उसे विश्वास था कि अब पांडवों को दुर्वासा के कोप से कोई नहीं बचा सकता था।

दुष्ट व कपटी मनुष्य की यही पहचान होती है कि वह अवसर मिलने पर अपने लिए सुख-शांति से पूर्व अपने शत्रु की हानि की इच्छा करता है! मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि दुर्वासा जैसे यशस्वी एवं परम ज्ञानी को दुर्योधन की नीयत पर तनिक भी संदेह नहीं

हुआ!

दुर्योधन ने पांडवों की भावी दुर्दशा का वृत्तांत जानने के लिए अपने गुप्तचर दुर्वासा के पीछे भेज दिए। गुप्तचरों ने द्वैतवन से लौटकर जो कुछ बताया उसे सुनकर दुर्योधन तथा अन्य सभी स्तब्ध रह गए।

दुर्योधन को दिए वचन के अनुसार दुर्वासा ने द्वैतवन पहुँचकर अपने शिष्यों से पता करवा लिया कि पांडव दोपहर के भोजन से निवृत्त हो चुके थे। वे उसी समय सब शिष्यों को लेकर युधिष्ठिर के द्वार पर जा पहुँचे। दुर्वासा के दर्शन होना किसी विपत्ति से कम न था!

युधिष्ठिर समेत सभी पांडवों भाइयों ने उन्हें प्रणाम किया और अपनी दशा छिपाने का प्रयास करते हुए कहा, "ऋषिवर! यह हमारा सौभाग्य है कि आपके श्रीचरणों से हमारी कुटिया पवित्र हुई है।"

दुर्वासा बोले, "तुम्हारा मंगल हो युधिष्ठिर! दुर्योधन के घर पर अतिथि रहने के बाद उसके कहने पर ही मैं अपने शिष्यों के साथ यहाँ आया हूँ ताकि दुर्योधन की इच्छानुसार, तुम्हें भी मेरे सत्कार का अवसर मिल सके। इस समय हमें बहुत ज़ोर से भूख लगी है।"

युधिष्ठिर समझ गया कि दुर्योधन ने इस बार बहुत चतुराई से उन्हें फँसाने की योजना बनाई थी। परंतु वह घबराया नहीं और बोला, "आप स्नान करके वापस आइए! हम आपके व आपके शिष्यों के लिए भोजन की व्यवस्था करते हैं।"

"बहुत अच्छा!" दुर्वासा ने प्रसन्न होकर कहा और शिष्यों को लेकर नदी-तट की ओर चल दिए। उनके जाते ही पाँचों भाइयों ने एक-दूसरे की ओर देखा जिससे स्पष्ट था कि वे दुविधा में थे। परंतु फ़िलहाल, चिंता का विषय यह था कि इतने कम समय में दुर्वासा और उनके शिष्यों को भोजन खिलाकर तृप्त कैसे जाए। उन्हें यह भी भली-भांति पता था कि यदि दुर्वासा उनके सत्कार से संतुष्ट न हुए तो इसका परिणाम क्या होगा!

"हमने दुर्योधन को गंधर्वों के कोप से बचाया," भीम ने दाँत पीसते हुए कहा, "लेकिन उसके नीच व्यवहार में कोई सुधार नहीं हुआ है। देखो, उसने हमें किस संकट में डाल दिया!"

युधिष्ठिर ने द्रौपदी से पूछा, "द्रौपदी, क्या तुम्हारा अक्षय पात्र इस समय हमारी सहायता कर पाएगा?"

"नहीं महाराज!" द्रौपदी ने दुखी स्वर में कहा, "वह अक्षयपात्र मुझे सूर्यदेव ने दिया था और कहा था कि उसमें पकाए गए भोजन से एक दिन में असंख्य लोगों का पेट भरा जा सकता है किंतु ऐसा करना केवल तब तक संभव है, जब तक मैं स्वयं भोजन न कर लूँ। मेरे भोजन से निवृत्त हो जाने के बाद, वह पात्र भोजन प्रदान नहीं कर सकता। दुर्भाग्य से, मैंने अभी कुछ देर पहले ही भोजन समाप्त कर पात्र धोकर रखा है।"

"ओह! यह तो संकटपूर्ण स्थिति है और अब हमारे पास तुरंत वन से फल-सब्ज़ी

लाकर पकाने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।” ऐसा कहकर पांडव वन की ओर दौड़ पड़े।

द्रौपदी ने चूल्हा जलाना शुरू कर दिया और अपने सखा कृष्ण को याद करने लगी। वह अपने पाँच महाबली पतियों की तरह घबराई नहीं क्योंकि उसके सखा श्रीकृष्ण हर संकट में उसकी सहायता करते थे। कौरव-सभा में चीर-हरण की घटना ने द्रौपदी का यह विश्वास अत्यंत दृढ़ कर दिया था। उसके इसी अखंड विश्वास का परिणाम था कि पांडवों के निकलते ही, कुछ ही क्षण बाद श्रीकृष्ण वहाँ आ गए।

“अरे!” द्रौपदी कृष्ण को देखकर आश्चर्यचकित रह गई। “आप यहाँ कैसे आए?” उसने पूछा।

“मैं द्वैतवन से गुज़र रहा था। अचानक मुझे बहुत तेज़ भूख लगी, तो मैंने सोचा कि आज तुम लोगों के साथ भोजन कर लिया जाए!” कृष्ण ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

“परिहास मत करो कृष्ण,” द्रौपदी ने खीजते हुए कहा, “मैं नहीं जानती कि आपको हमारी परेशानी के बारे में पता है अथवा नहीं किंतु, इस समय मेरे पास आपको खिलाने के लिए भोजन का एक दाना भी नहीं है।”

“मैं तुम्हारी परेशानी के विषय में बाद में सोचूँगा, मगर पहले मुझे खाने को कुछ चाहिए। एक बार मुझे अपना पात्र तो दिखाओ। हो सकता है, उसमें कुछ भोजन शेष हो।”

“आपको मुझ पर विश्वास नहीं है तो लो, स्वयं देख लो।” यह कहते हुए द्रौपदी ने अपना अक्षयपात्र कृष्ण के हाथ में थमा दिया।

“आह! देखा, तुम्हारा झूठ पकड़ा गया!” कृष्ण ने उस पात्र के किनारे पर चिपका, चावल का एक दाना उठाते हुए कहा, “तुम तो कह रही थीं कि तुम्हारे पास एक भी दाना नहीं है, तो फिर यह कहाँ से आया?”

“किंतु... मगर... मैंने तो...” द्रौपदी से कुछ बोलते नहीं बन रहा था।

श्रीकृष्ण ने चावल का वह दाना अपने में मुँह में रखा और उसे चबाने लगे। उसके बाद उन्होंने थोड़ा जल पिया और ज़ोर से डकार लेते हुए बोले, “वाह! मज़ा आ गया! संसार के सभी प्राणी मेरी तरह तृप्त हो जाएँ!”

द्रौपदी के चेहरे पर आश्चर्य और क्रोध के मिले-जुले भाव थे। उसे समझ नहीं आया कि श्रीकृष्ण सचमुच तृप्त हो गए थे अथवा वह केवल उसका मन बहला रहे थे।

“महर्षि दुर्वासा के क्रोध की कल्पना से मेरी जान निकल रही है और आपको परिहास...!” द्रौपदी की बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि पांडवों ने कुटिया में प्रवेश किया। उनके हाथों में सूखी लकड़ियाँ और बहुत-से फल इत्यादि थे।

“महर्षि दुर्वासा को कहाँ छोड़ आए, भीम?” कृष्ण ने मुस्कराते हुए पूछा।

द्रौपदी ने अचंभित होकर कृष्ण को देखा, किंतु कृष्ण मुस्कराते हुए भीम के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे थे।

“आज बहुत विचित्र बात हुई!” भीम ने कहा। “वन से लौटते समय हमें फिर से ऋषि दुर्वासा व उनके शिष्य मिले थे। वे हमारी कुटिया से दूर किसी अन्य दिशा में जा रहे थे। मैंने उनसे वापस जाने का कारण पूछा और भोजन के लिए आमंत्रित भी किया। परंतु वे बोले कि उनका पेट भर गया है। फिर उन्होंने बहुत ज़ोर से डकार ली और हमें आशीर्वाद देकर अपने शिष्यों के साथ आगे बढ़ गए!” द्रौपदी को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

एक बार फिर श्रीकृष्ण ने पांडवों पर आई बहुत बड़ी विपदा को टाल दिया था। मैंने जब यह प्रकरण सुना तो जहाँ एक ओर श्रीकृष्ण के प्रति मेरी आस्था पहले से भी अधिक प्रबल हो गई, वहीं दूसरी ओर, मेरा मन दुर्योधन के प्रति और अधिक मैला एवं नकारात्मक हो गया था।

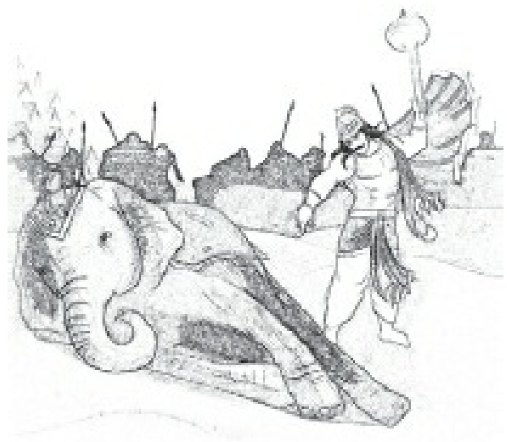

16

उन दिनों महारथी कर्ण हस्तिनापुर आया हुआ था। मेरी दृष्टि में कौरव-पक्ष में कर्ण एकमात्र ऐसा योद्धा ऐसा था जिसने दुर्योधन के धूर्त स्वभाव से परिचित होने के बाद भी दुर्योधन का एक बार भी विरोध नहीं किया, अपितु दुर्योधन के प्रत्येक दुष्कर्म में उसका साथ भी दिया।

एक दिन मैं नदी-तट पर अकेला बैठा पांडवों-कौरवों के बीच बनते-बिगड़ते समीकरणों पर विचार कर रहा था कि मैंने कुछ दूरी पर कर्ण को स्नान करके नदी से बाहर निकलते देखा। कर्ण के तन पर स्वर्ण-कवच और कानों में स्वर्ण-कुंडल सूर्य के समान चमक रहे थे। कहते हैं, कर्ण का जन्म उन कवच और कुंडलों के साथ ही हुआ था। वे दोनों वस्तुएँ अमृतमय थीं, जिसके कारण कर्ण के तन पर उन वस्तुओं के रहते उसे मार पाना असंभव था। कर्ण के विषय में यह भी प्रख्यात था कि वह अत्यंत दानवीर था और स्नान से लौटते समय उससे कोई कुछ भी माँगता तो वह मना नहीं करता था। इस कारण स्नान के बाद उसे मार्ग में प्रायः याचक मिल जाते थे जो कर्ण से मुँह-माँगी वस्तुएँ पाकर संतुष्ट होकर लौटते थे।

उस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। याचकों को दान देने के बाद कर्ण आगे बढ़ गया। उसे

मार्ग में एक ब्राह्मण मिला। कर्ण ने ब्राह्मण को प्रणाम किया और पूछा, “ब्राह्मण देवता, कहिए मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?”

“यशस्वी भव!” ब्राह्मण ने कहा, “मैंने सुना है कि तुम किसी याचक को निराश नहीं करते। मैं इसी आशा में तुमसे कुछ माँगने आया हूँ।”

“आदेश करें ब्राह्मण देवता!” कर्ण ने कहा। “मैं प्रयास करूँगा कि आपको निराश न करूँ।”

“मैं तुम्हारे दिव्य कवच और कुंडल की कामना लेकर आया हूँ!” ब्राह्मण ने तत्काल अपनी इच्छा व्यक्त कर दी। क्या मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी?”

“क्षमा करें!” कर्ण चौंक गया। “परंतु...” उसने संकोच करते हुए कहा, “ये कवच-कुंडल जन्म से मेरे तन का हिस्सा हैं। मैं इन्हें आपको कैसे दे सकता हूँ? आप इन्हें छोड़कर और कुछ भी माँग लीजिए।”

ब्राह्मण ने कहा, “मैंने सुना था कि इस पृथ्वी पर तुमसे बड़ा दानी कोई नहीं है। संभवतः मैंने ग़लत सुना था। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। कोई बात नहीं, कर्ण! मैं चलता हूँ।”

“रुकिए ब्राह्मण देव!” कर्ण ने क्षण-भर सोचने के बाद कहा, “मैंने आपको पहचान लिया है। आप निश्चय ही इंद्रदेव हैं और मेरे कवच-कुंडल लेकर आप मुझे शक्तिहीन बनाना चाहते हैं। मैं चाहूँ तो आपको कवच-कुंडल देने से मना कर सकता हूँ, किंतु मैं नहीं चाहता कि संसार उपहास करे और कहे कि कर्ण को अपने प्राण अपने वचन से अधिक प्रिय थे और इसलिए उसने एक ब्राह्मण को निराश कर दिया।” यह कहकर कर्ण ने कमर में बँधा छुरा निकाला और अपने दिव्य कवच-कुंडलों को तन से काटकर अलग कर दिया। कर्ण का तन ख़ून से लथपथ हो गया। उसे देखकर इंद्र की आँखों में आँसू आ गए।

इंद्र ने कहा, “मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, दानवीर कर्ण! मेरा वज्र छोड़कर तुम मुझसे कुछ भी माँग सकते हो।”

“प्रभु,” कर्ण बोला, “मैंने अपनी प्राण-रक्षक वस्तुएँ आपको दान में दे दी हैं। इसके बदले आप मुझे कोई अचूक दिव्यास्त्र दीजिए!”

“तथास्तु!” इंद्र बोले, “मैं तुम्हें अपनी अमोघ शक्ति देता हूँ। यह अचूक है और इससे शत्रु का अंत निश्चित है। परंतु ध्यान रहे कि तुम युद्ध में इसका प्रयोग केवल एक बार कर सकते हो।” कर्ण को अमोघ शक्ति प्रदान करके, और उसके कवच-कुंडल लेकर इंद्र अंतर्ध्यान हो गए।

मुझे यह समझते देर न लगी कि इंद्र ने यह कपटपूर्ण कृत्य इसलिए किया क्योंकि युद्ध में केवल अर्जुन ही कर्ण को परास्त कर सकता था किंतु कर्ण के तन पर कवच-कुंडल होते

हुए उसे पराजित करना असंभव था। इंद्र ने अर्जुन की विजय सुनिश्चित करने के उद्देश्य से कर्ण के अभेद्य कवच और दिव्य कुंडल उससे छीनने हेतु यह कुटिल चाल चली थी। अब प्रश्न यह था कि इंद्र की अर्जुन से ऐसी क्या निकटता थी जिसके कारण इंद्र ने छलपूर्वक कर्ण से ऐसा विकट कार्य करवाया और अर्जुन की सहायता की? इस उत्तर को खोजने के लिए मेरे पास एक ही स्थान था!

मैं महात्मा विदुर के पास पहुँच गया। मैंने विदुर को यह घटना सुनाई और इंद्र की अर्जुन से घनिष्ठता के विषय में पूछा तो वह मुझे साथ लेकर महल से बाहर चले आए। जब कभी ऐसा होता तो इसका अर्थ यह था कि वे कुछ गोपनीय बात कहना चाहते थे। महल के उद्यान को पार करने के बाद विदुर रुके और मुझे देखकर उन्होंने कहा, “अर्जुन, वास्तव में देवराज इंद्र का पुत्र है! इंद्र ने छल से कर्ण का दिव्य कवच-कुंडल लेकर अपने पुत्र की विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया है, अश्वत्थामा!”

ऐसा न जाने क्यों होता था कि मेरे किसी प्रश्न के उत्तर में विदुर कुछ ऐसा कह देते थे जिससे फिर किसी नए प्रश्न का जन्म हो जाता था जिसका उत्तर भी मुझे विदुर ही से मिलता था। मैं सोचने लगा कि कुंती का पति पांडु था तो फिर अर्जुन के पिता, इंद्रदेव किस प्रकार हो सकते हैं। मैंने विदुर से यह प्रश्न किया तो उत्तर में मुझे ऐसी बात जानने को मिली जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

विदुर ने बताया कि पांडु के बाण से जब रति-क्रिया में संलग्न किंदम मुनि की मृत्यु हुई थी तो किंदम ने पांडु को शाप दिया था कि उसकी मृत्यु भी अपनी पत्नी के साथ संभोग करने से ही होगी! बाद में, किंदम मुनि की हत्या का प्रायश्चित करने के लिए पांडु वन में रहने लगा। वहाँ रहते हुए एक दिन उसके मन में संतान की इच्छा उत्पन्न हुई किंतु शाप के भय से वह अपनी पत्नियों के निकट नहीं जा सकता था। इस दुविधा से पांडु दुखी रहने लगा। एक दिन पांडु को उदास देखकर कुंती उसके पास आई और उसने बताया कि उसकी कन्यावस्था में महर्षि दुर्वासा ने प्रसन्न होकर उसे यह वरदान दिया था कि वह जब चाहे, किसी भी देवता का आह्वान कर सकती है। यह सुनकर पांडु बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुंती से आग्रह किया कि वह दुर्वासा के दिए वरदान का लाभ उठाकर किसी देवता का आह्वान करे और उनसे पुत्र माँग ले। तब उस विषम परिस्थिति में, स्वयं पांडु के कहने पर कुंती ने धर्मराज का आह्वान करके पुत्र रूप में युधिष्ठिर को पाया और उसके बाद, एक-एक करके पवनदेव से भीमसेन, देवराज इंद्र से अर्जुन का जन्म हुआ। इसके बाद, पांडु की दूसरी पत्नी, माद्री ने कुंती से वह वरदान उधार माँग लिया और उसके फलस्वरूप माद्री को भी अश्विनीकुमारों द्वारा नकुल और सहदेव की प्राप्ति हुई। इस प्रकार कुंती से तीन तथा माद्री से दो पुत्रों के जन्म के बाद, पांडु भी पाँच पुत्रों का पिता बन गया। पुत्रों की कामना पूर्ण होने से पांडु का मानसिक तनाव समाप्त हो गया। एक दिन कामासक्त होने पर पांडु ने माद्री के साथ संसर्ग करने का प्रयास किया और तभी किंदम के शाप के प्रभाव से पांडु की मृत्यु हो गई। माद्री ने स्वयं को पांडु की मृत्यु का दोषी माना और वह पांडु की चिता के साथ सती हो गई। इसके

बाद, कुंती के पास अपने पाँच अबोध बालकों को लेकर हस्तिनापुर लौटने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।

विदुर का यह अनुमान था कि किंदम मुनि द्वारा दिए शाप वाली बात शायद किसी को पता नहीं थी इसलिए जब कुंती अपने नवजात पुत्रों के साथ हस्तिनापुर लौटी तो किसी ने उससे यह प्रश्न नहीं किया कि मुनि के शाप के कारण पांडु के लिए संभोग करना अंसभव था तो फिर कुंती के पाँच बालकों का जन्म कैसे हुआ!

कुंती द्वारा वरदान की सहायता से इंद्र और अर्जुन का संबंध स्पष्ट हो गया। हालांकि, वरदान कभी-कभी अभिशाप भी बन जाते हैं, यह बात मुझे तब समझ में आई जब पांडवों के ही जन्म से जुड़ा एक और रहस्य मुझे बहुत बाद में पता लगा। मैं उस रहस्य को भी बाद में ही प्रकट करूँगा क्योंकि वह इस कथा की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कड़ी है, लेकिन यहाँ उसका उल्लेख करने से कथा का रोमांच समाप्त हो जाएगा।

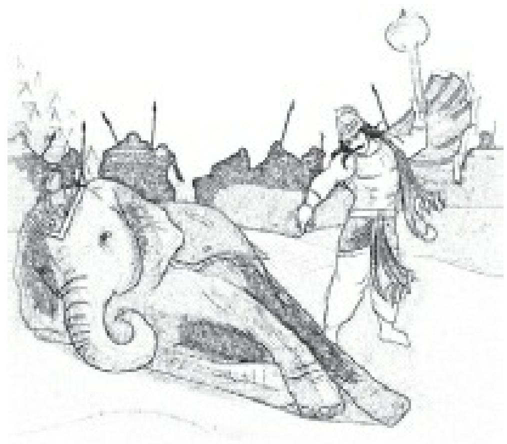

17

मुझे सहसा एक घटना याद आ रही है। हालांकि इसमें मेरी मूर्खता ही परिलक्षित होती है, किंतु जीवन के इस पड़ाव पर, जब मुझे अपने ऊपर हँसने वाले लोग भी ढूँढ़ने से नहीं मिलते और मैं स्वयं ही अपने अच्छे-बुरे कृत्यों को आपके साथ साझा कर रहा हूँ, तो ऐसे में उस घटना का उल्लेख करना इस महागाथा के सागर में एक घट से अधिक नहीं है!

जिन दिनों पांडव वन में थे, उस बीच मैं कुछ समय के लिए द्वारका में वृष्णिवंशियों के साथ रहने गया हुआ था। उन्होंने मेरा बहुत सत्कार किया। वहाँ रहते हुए एक दिन मेरे मन में विचार उठा कि इस संसार में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी अजेय नहीं है और कृष्ण के अजेय होने का कारण उनका दिव्य सुदर्शन चक्र है जिसे वे हर पल अपनी तर्जनी में धारण किए रखते हैं। मैंने सोचा, यदि वह चक्र मुझे मिल जाए तो मैं भी अजेय हो सकता हूँ! यह विचार मन में आते ही मैं उस चक्र को पाने की मूर्खतापूर्ण कामना लेकर श्रीकृष्ण के पास जा पहुँचा।

“गोविंद!” मैंने अत्यंत मधुर वाणी में कृष्ण से कहा, “मेरे पिता द्रोणाचार्य ने भीषण तपस्या द्वारा महामुनि अगस्त्य से ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था। वह अस्त्र अब मेरे पास है और मेरे

पिता ने उसे चलाने की विद्या भी मुझे सिखाई है किंतु साथ ही उसे प्रयोग न करने की चेतावनी भी दी है क्योंकि उसके प्रयोग से समस्त पृथ्वी नष्ट हो सकती है। मुझे नहीं लगता कि कभी कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी जब मुझे उस अस्त्र को प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ेगी और इसलिए मेरे लिए उस ब्रह्मास्त्र का कोई लाभ नहीं है।"

श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए बोले, "मैं जानता हूँ अश्वत्थामा। वह सचमुच ही दिव्य और शक्तिशाली अस्त्र है। तुम अत्यंत भाग्यशाली हो कि वह महान अस्त्र तुम्हारे पास है और तुम्हें उसके उपयोग की विधि भी ज्ञात है। परंतु तुम यह सब मुझे क्यों बता रहे हो?"

मैंने कृष्ण से अपना असली मंतव्य छिपाते हुए कहा, "माधव! मैं यह आपको इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि आपके पास तो ऐसे अनेक दिव्य और चमत्कारी अस्त्र हैं, जिनके द्वारा शत्रु को सरलता से पराजित किया जा सकता है। इसलिए, मेरी इच्छा है कि आप अपने उन अस्त्रों में से अपना दिव्य सुदर्शन चक्र मुझे दे दीजिए और उसके बदले में यदि आप चाहें तो मैं आपको अपना ब्रह्मास्त्र दे सकता हूँ!"

मेरी बार सुनकर एक क्षण के लिए श्रीकृष्ण के चेहरे के भाव गंभीर हो गए, फिर अगले ही पल वे दोबारा सहज हो गए। मुझे ऐसा आभास हुआ कि वे मेरी चाल समझ गए थे। परंतु अब तो मुझे केवल उनकी "हाँ" की प्रतीक्षा थी।

"प्रिय अश्वत्थ!" वे अत्यंत सौम्य वाणी में बोले, "हालांकि तुम दुर्योधन के पक्ष में हो और तुम जानते ही हो कि मुझे पांडव अधिक प्रिय हैं, इसलिए वैसे तो मुझे तुम्हारी प्रार्थना तुरंत अस्वीकार कर देनी चाहिए क्योंकि तुम्हें अपना सुदर्शन चक्र देना, पांडवों के लिए घातक हो सकता है, किंतु यह मेरी दुर्बलता है कि मैं समर्पण भाव से आए किसी व्यक्ति को ख़ाली हाथ नहीं लौटा सकता। मुझे तुम्हारी इच्छा पूरी करनी ही होगी। मेरे पास धनुष, शक्ति, चक्र और गदा - ये चार मुख्य अस्त्र हैं। तुम इनमें से जो चाहो, ले सकते हो!"

मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैंने आगे बढ़कर तुरंत अपने बाएँ हाथ से चक्र को उठाना चाहा। परंतु वह इतना भारी था कि मुझसे हिला भी नहीं। मैंने अपने दाहिने हाथ से प्रयास किया किंतु चक्र नहीं हिला। मैंने दोनों हाथों से अपना पूरा ज़ोर लगाया। मेरे माथे से पसीने की बूँदें टपक रही थीं, चेहरा लाल हो गया था, किंतु श्रीकृष्ण का वह हज़ार अरों तथा वज्र की नाभि वाला सुदर्शन चक्र टस से मस न हुआ! मैं अपने जीवन काल में पहली बार इतना लज्जित महसूस कर रहा था। मैं निराश होकर पीछे हट गया और दृष्टि झुकाए श्रीकृष्ण के सामने खड़ा रहा।

"अश्वत्थामा!" श्रीकृष्ण बोले, "मैंने हिमालय में बारह वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के उपरांत इस चक्र को प्राप्त किया है और यही कारण है कि यह तुमसे हिला तक नहीं! परंतु मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ कि गांडीवधारी अर्जुन ने, जिसकी ध्वजा पर वानर का चिह्न सुशोभित है और जिसने द्वंद्व में देवाधिदेव उमापति भगवान शंकर को भी संतुष्ट कर दिया था, कभी मेरे चक्र को पाने की इच्छा व्यक्त नहीं की। यहाँ तक कि मेरी

सहधर्मिणी रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न प्रद्युम्न ने भी, जो वास्तव में सनत्कुमार का अंश है, मुझसे यह चक्र नहीं माँगा। तुम भरतवंशी आचार्य द्रोण के पुत्र हो और सभी यादव तुम्हारा सम्मान करते हैं, तो फिर तुम्हारे मन में इस चक्र को पाने की इच्छा क्यों जाग्रत हुई? तुम यह चक्र लेकर किसके साथ युद्ध करना चाहते थे?"

मैं पहले ही अपनी असमर्थता के कारण लज्जित था, ऊपर से कृष्ण ने यह प्रश्न पूछकर मेरे शेष आत्म-सम्मान को भी उधेड़ दिया। मुझे उत्तर तो देना ही था, सो मैंने सच कह दिया, "माधव! मैं जानता हूँ कि आप अजेय हैं और इसमें आपके सुदर्शन चक्र का भी योगदान है। यही कारण था कि मैं आपका चक्र प्राप्त करके आप ही से युद्ध करता और फिर आपको परास्त करके अजेय बनना चाहता था!" यह कहकर मैंने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और उन्हें मेरी मूर्खता पर मुस्कराता छोड़ द्वारका से लौट आया।

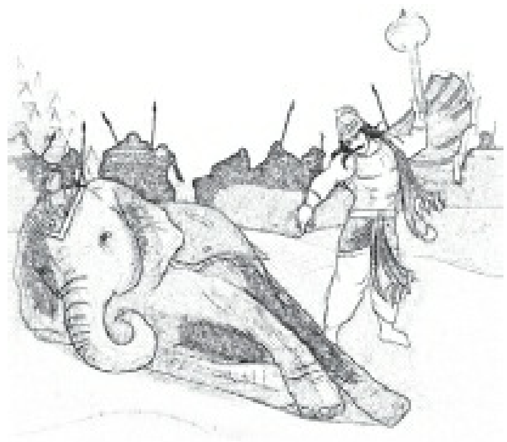

18

द्यूत में हारने के बाद, पांडवों के बारह साल के वनवास का अंतिम वर्ष चल रहा था। एक दिन वन में घूमते हुए पांडवों को प्यास लगी तो वे एक पेड़ के नीचे बैठ गए। द्रौपदी ने नकुल से पानी लेकर आने को कहा। कुछ देर बीत जाने पर जब नकुल नहीं लौटा तो सहदेव उसे खोजने गया। जब वे दोनों ही बहुत देर तक नहीं आए तो युधिष्ठिर ने अर्जुन को भेजा। आश्चर्य की बात थी कि अर्जुन भी गया तो फिर वापस नहीं आया। अब भीम की बारी थी किंतु हज़ार हाथियों जितना बलशाली भीम भी नहीं गया और लौटकर नहीं आया तो द्रौपदी और युधिष्ठिर को चिंता हुई।

द्रौपदी ने कहा, “युधिष्ठिर! संसार के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर और पृथ्वी के सबसे शक्तिशाली पुरुष को एक कटोरा पानी लाने में इतना विलंब क्यों हो रहा है? मुझे बहुत चिंता हो रही है। आप कृपया जाइए और देखिए, मुझे लगता है कि वे चारों किसी संकट में हैं।”

युधिष्ठिर को द्रौपदी की बात सही लगी। वह अपने चारों भाइयों की खोज में निकल पड़ा। अपने भाइयों को खोजता हुआ युधिष्ठिर एक सरोवर के पास पहुँचा तो उसने देखा कि उसके चारों भाई धरती पर अचेत पड़े थे। वह उनके निकट गया तो आश्चर्य से उसका रक्त

जम गया। चारों पांडव मर चुके थे! युधिष्ठिर का हृदय दुख से विदीर्ण हो गया। वह अपने भाइयों की अकस्मात मृत्यु का कारण जानने के लिए आतुर हो गया। उसने इधर-उधर देखा और फिर तालाब के पानी में उतरने लगा।

"ठहरो!" तालाब के भीतर से आवाज़ आई। "मैं यक्ष हूँ और इस तालाब का रक्षक हूँ। मैंने ही तुम्हारे चारों भाइयों को मारा है!"

"किंतु मेरे भाइयों का अपराध क्या था?" युधिष्ठिर ने रुँधे गले से पूछा।

"मैंने इन्हें तालाब से पानी पीने से रोका था, किंतु उसके बावजूद, इन्होंने पानी पीने का प्रयास किया, और इसलिए मैंने अपनी अवज्ञा के अपराध में इन चारों को मार दिया!"

"मैं इनके अपराध के लिए आपसे क्षमा माँगता हूँ। कृपया इन्हें जीवित करने का मार्ग बताएँ।" युधिष्ठिर ने कातर भाव से कहा।

"तुम यदि मेरे प्रश्नों के सही उत्तर दोगे तो मैं इन्हें जीवित कर दूँगा, अन्यथा तुम्हें भी इनके साथ यमलोक पहुँचा दूँगा," यक्ष ने कहा। "यदि तुम चाहो तो अपने भाइयों को मृत छोड़कर यहाँ से वापस लौट सकते हो और अपने प्राणों की रक्षा कर सकते हो।"

हालांकि, ज्ञान की दृष्टि से युधिष्ठिर के लिए यह चुनौती कठिन नहीं थी किंतु इसमें एक ख़तरा यह था कि यदि वह किसी प्रश्न का उत्तर देने से चूक जाता तो उसे भी अपने प्राण गँवाने पड़ते। परंतु जैसे ही उसकी दृष्टि अपने भाइयों पर पड़ी तो उसने यक्ष की चुनौती को स्वीकार कर लिया।

"सूर्य को कौन उदित करता है?" यक्ष ने पहला प्रश्न किया।

"सूर्य को ब्रह्म उदित करता है," युधिष्ठिर ने आत्मविश्वास से पहला उत्तर दिया।

"सूर्य के चारों ओर कौन चलते हैं?"

"सूर्य के चारों ओर देवता चलते हैं।"

"सूर्य को अस्त कौन करता है?" यक्ष के प्रश्न गंभीर होते जा रहे थे।

"सूर्य को धर्म अस्त करता है।" युधिष्ठिर ने सहजता से उत्तर दिया।

"सूर्य किसमें प्रतिष्ठित है?"

"सूर्य, सत्य में प्रतिष्ठित है" धर्मराज के अंश, युधिष्ठिर ने कहा।

इसके बाद, यक्ष ने आध्यात्मिकता के गूढ़तम प्रश्नों से लेकर सामान्य ज्ञान तक सब तरह के प्रश्न पूछे।

"पृथ्वी से अधिक भारी कौन है? आकाश से भी अधिक ऊँचा क्या है? वायु से भी अधिक तेज़ कौन है? वह क्या है जो संख्या में घास के तिनकों से भी अधिक है?"

“पृथ्वी से अधिक भारी माता है,” जितनी शीघ्रता से यक्ष प्रश्न पूछ रहा था, युधिष्ठिर भी लगभग उतने ही त्वरित उत्तर दे रहा था। “पिता आकाश से भी ऊँचा है। मन की गति, वायु से अधिक तेज़ है और मनुष्य के मन में व्याप्त चिंताएँ, घास के तिनकों से भी अधिक हैं।”

यक्ष के प्रश्न धीरे-धीरे पेचीदा होते जा रहे थे। लेकिन युधिष्ठिर अत्यंत धैर्य और बुद्धि से सभी प्रश्नों के उत्तर दे रहा था। इस तरह यक्ष ने निन्यानवे प्रश्न पूछने के बाद कहा, “यह मेरा अंतिम प्रश्न है युधिष्ठिर! बहुत सोच-समझकर जवाब देना।”

“जी! आप प्रश्न पूछिए,” युधिष्ठिर ने कहा।

“इस संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?”

युधिष्ठिर ने एक पल के लिए सोचा और फिर कहा, “प्रतिदिन असंख्य लोग मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किंतु फिर भी जो लोग बच जाते हैं, वे सदा जीवित रहने की कामना रखते हैं। यही इस संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है!”

“अति सुंदर युधिष्ठिर! तुमने मेरे सभी प्रश्नों के उत्तर बिलकुल ठीक दिए हैं। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हारे चारों भाइयों को तो जीवित कर ही दूँगा, साथ ही मैं तुम्हें दो वरदान देना चाहता हूँ। माँगो, क्या चाहिए?”

बहुत देर तक सोचने के बाद युधिष्ठिर बोला, “हम लोगों का वनवास-काल समाप्त होने वाला है और हमें एक वर्ष अज्ञातवास में बिताना है। यदि किसी ने हमें इस बीच पहचान लिया तो हमें फिर से बारह वर्ष का वनवास बिताना होगा। इसलिए आप मुझे यह वरदान दीजिए कि उस एक वर्ष के अज्ञातवास के दौरान हमें कोई न पहचान सके।”

“तथास्तु!” यक्ष ने कहा, “अब दूसरा वर माँगो!”

“मुझे दूसरा वर यह दीजिए कि मैं लोभ, मोह और क्रोध को जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्य, सदा मेरे मन की प्रवृत्ति बने रहें!”

“तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!” इसके बाद यक्ष ने चारों पांडव भाइयों को जीवित कर दिया और अंतर्ध्यान हो गया।

अपने तेजस्वी रूप और विलक्षण प्रतिभा के कारण पांडवों के लिए एक वर्ष तक छिपकर रहना असंभव था, किंतु यक्ष का वरदान, इस कठिन समय में उनके लिए अभेद्य कवच बन गया। उन्होंने अज्ञातवास का एक वर्ष बिताने के लिए मत्स्यदेश का चयन किया क्योंकि वहाँ का राजा विराट अत्यंत बलशाली होने के साथ-साथ पांडुवंश के प्रति स्नेह रखता था। पाँचों पांडव और द्रौपदी अलग-अलग समय पर विराट के दरबार में गए और उसे प्रसन्न करके अपने-अपने लिए कार्य माँग लिया। अर्जुन के अतिरिक्त, चारों भाइयों और द्रौपदी को उनकी योग्यता एवं पसंद के अनुसार विराट के महल में कार्य मिल गया।

युधिष्ठिर को पाँसे खेलने का शौक था, तो उसने ‘कंक’ नामक ब्राह्मण के रूप में राजा

विराट का सभासद बनकर उसके साथ द्यूत खेलने एवं उसका मनोरंजन करने का निर्णय लिया। भीमसेन को भोजन पकाना और खाना बहुत पसंद था, इसलिए उसने अपने लिए 'वल्लभ' नाम चुना और विराट के रसोइये का कार्य उसे पसंद आया। नकुल को अश्व-विद्या का बहुत अच्छा ज्ञान था, तो उसने 'ग्रंथिक' नाम के अश्वपाल के रूप में कार्य सँभालने का विचार बनाया। सहदेव को गायों की अच्छी जानकारी थी, इसलिए उसने 'तंतिपाल' नाम चुना और राजा विराट की गौशाला में काम करने का निर्णय लिया। द्रौपदी ने निश्चय किया कि वह स्वयं को 'सैरंध्री' नाम से द्रौपदी की दासी बताकर विराट की पत्नी की सेविका बन जाएगी। परंतु अर्जुन यह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि वह अपने लिए कौन-सी भूमिका का चयन करे।

कुछ देर बाद अर्जुन ने कहा, "मुझे भी समझ में आ गया। मैं 'बृहन्नला' नाम से नपुंसक बनकर एक वर्ष तक विराट के रनिवास की स्त्रियों को नृत्य एवं संगीत की शिक्षा दूँगा और उनका मनोरंजन भी करूँगा!"

"नपुंसक!" युधिष्ठिर ने उद्विग्नता से पूछा, "अर्जुन, यह तुम क्या कह रहे हो? तुम नपुंसक बनकर कैसे रह सकते हो?" संसार के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर के मुख से नृत्य-संगीत की बात सुनना अपने आप में विचित्र बात थी।

"भैया!" अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा, "इसमें भी एक रहस्य है जो मैंने आपको नहीं बताया था। मैं जिन दिनों दिव्यास्त्रों की खोज में इंद्रलोक गया हुआ था, मैंने वहाँ गंधर्व चित्रसेन से गाना-बजाना भी सीख लिया था। वहीं रहते हुए एक दिन मेरी भेंट चित्रसेन की एक अप्सरा से हुई। उसका नाम उर्वशी था। वह मेरे रूप पर मोहित हो गई और उसने प्रेम का प्रस्ताव कर दिया। मैंने उन दिनों ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा था, इसलिए मैंने उर्वशी को कहा कि मैं उसका आदर करता हूँ और मैं उससे विवाह करने में अक्षम हूँ।" यह सुनकर वह हँसी और बोली, "हम अप्सराएँ विवाह नहीं करतीं। मैं आपके आकर्षक व्यक्तित्व पर आसक्त हो गई हूँ। मैं काम से पीड़ित हूँ और आपसे विनती करती हूँ कि आप मेरा कष्ट दूर कीजिए।"

अर्जुन ने आगे बताया, "मैंने उर्वशी को कई प्रकार से समझाने की कोशिश की। मैंने उससे यह भी कहा कि जिस प्रकार कुंती, माद्री और इंद्र की पत्नी शची मेरी माताएँ हैं, उसी तरह आप भी मेरी माता के समान हैं तथा मेरे लिए वंदनीय हैं!"

यह सुनते ही उर्वशी को क्रोध आ गया और वह बोली, "अर्जुन! मैं कामातुर होकर तुम्हारे पास आई थी किंतु तुमने स्त्री का कष्ट दूर करने के बजाय उसे और बढ़ा दिया है। मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हें स्त्रियों की तरह नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम्हें अपने जिस पौरुष पर इतना घमंड है, उसे खोकर तुम्हें नपुंसक का जीवन जीना पड़ेगा!"

यह बात सुनकर युधिष्ठिर को घोर आश्चर्य हुआ। उसने अर्जुन से आगे की बात बताने का आग्रह किया। तब अर्जुन बोला, "उर्वशी के शाप का प्रभाव तत्काल आरंभ हो गया। मुझे लगा कि कोई अदृश्य शक्ति मेरे पौरुष को रौंद रही थी। मैं अपने भीतर परिवर्तन महसूस

करने लगा। मैं घबराकर चित्रसेन की शरण में गया और उन्हें पूरी बात बताई। मेरी बात सुनकर चित्रसेन धीमे-से मुस्कराए। इंद्रलोक में शायद इस तरह की घटनाएँ सामान्य होती होंगी।”

चित्रसेन ने कहा, “घबराओ मत अर्जुन! मैं उर्वशी द्वारा दिए शाप को पूरी तरह समाप्त तो नहीं कर सकता किंतु इसकी अवधि घटाकर एक वर्ष कर सकता हूँ और तुम्हें यह एक सुविधा भी देता हूँ कि शाप का वह एक वर्ष तुम स्वेच्छा से निर्धारित कर सकोगे!”

“ओह!” युधिष्ठिर के चेहरे पर हर्ष और अवसाद के मिश्रित भाव थे, “फिर तो तुम्हारा निर्णय सही है! विराट के रनिवास में नर्तक बनकर उस शाप को भोगने का यही सबसे उपयुक्त समय है।”

इस प्रकार, पांडवों ने द्रौपदी के साथ मत्स्यदेश में प्रवेश किया और जो कुछ तय हुआ था, उसके अनुसार सबने अपना-अपना कार्यभार सँभाल लिया। वे सब अपने कार्य में इतने पारंगत थे कि राजा विराट को किसी तरह का संदेह नहीं हुआ। एक ओर, युधिष्ठिर, राजा विराट के साथ द्यूत खेलकर समय बिताना और उसका मनोरंजन करना आरंभ कर दिया तथा दूसरी ओर, सैरंध्री के रूप में द्रौपदी ने भी अपनी श्रृंगार-कला और सेवा से विराट की पत्नी महारानी सुदेष्णा का दिल जीत लिया। इसी तरह, भीमसेन, नकुल और सहदेव भी अपना-अपना कार्य करने लगे।

पांडवों में सबसे अधिक दयनीय अवस्था अर्जुन की थी। शाप के प्रभाव से रातों-रात उसके सिर के बाल लंबे होकर पीठ तक आ गए थे और चेहरे पर से उसकी रौबदार मूँछें सहसा ग़ायब हो गई थीं। वह रेशमी साड़ी व हाथों में कंगन पहनकर चलता तो उसका एक हाथ कमर पर और दूसरा हाथ हवा में लहराता रहता था। माथे पर बड़ी-सी बिंदी और बालों में वेणी बाँधकर जब वह स्त्रियों की तरह लचकता हुआ रनिवास में प्रवेश करता तो द्रौपदी के मन में हूक-सी उठती और वह अपने आँसू छिपा नहीं पाती थी।

मैं अर्जुन के विषय में सोचता हूँ तो मुझे लगता है मेरे लिए तो ऐसे जीवन की कल्पना करना भी कठिन है। कोई साधारण मनुष्य होता तो इस शाप के दंश से संतप्त रहकर एक वर्ष में अपने साथ, अपने भाइयों तथा अपनी पत्नी का जीवन भी नरक बना देता, किंतु अर्जुन साधारण मनुष्य नहीं था क्योंकि उसने अपनी बुद्धि और धैर्य की सहायता से शाप को भी वरदान में परिवर्तित कर लिया था। उसने उर्वशी के शाप तथा उससे जनित पीड़ा को न केवल हँसकर झेला अपितु, अज्ञातवास के दौरान अपने लाभ के लिए उस शाप का उपयोग किया। अर्जुन जैसे वीर धनुर्धर ने पुरुष होते हुए भी नपुंसक का जीवन भोगा और उससे जुड़े उपहास एवं उपेक्षा को सहन किया। निस्संदेह, अपने इसी अद्‌भुत एवं विलक्षण व्यक्तित्व के कारण वह द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म तथा श्रीकृष्ण के हृदय में बसता था!

पांडवों का अज्ञातवास पूरा होने वाला था। एक दिन मैं, कर्ण और दुर्योधन यह सोच रहे थे कि अज्ञातवास से लौटते ही पांडव अपना राज्य वापस माँगने आ जाएँगे। तभी दूत ने

समाचार दिया कि मत्स्य नरेश विराट के रसोइये वल्लभ ने रानी सुदेष्णा के भाई कीचक को मार डाला। बाद में पता लगा कि कीचक ने सुदेष्णा की दासी सैरंध्री पर कुदृष्टि डाली तथा उसे अपमानित किया जिसके कारण वल्लभ ने क्रोध में आकर कीचक की हत्या कर दी। यह साधारण समाचार नहीं था क्योंकि राजा के सेवक द्वारा रानी की सेविका के साथ हुए दुर्व्यवहार के लिए रानी के भाई की हत्या करना कोई सहज बात नहीं थी!

हम जानते थे कि कीचक इतना बलशाली था कि उसे मारना तो दूर, उससे लड़ने के विषय में सोचना भी सहज नहीं था। दुर्योधन को संदेह हो गया कि यह निश्चय ही किसी असाधारण व्यक्ति का काम था! कुछ समय बाद, दुर्योधन के गुप्तचरों ने, जो पिछले एक वर्ष से पांडवों को खोजने में जुटे हुए थे किंतु यक्ष के वरदान के कारण सफल नहीं हो पाए थे, दुर्योधन के संदेह की पुष्टि कर दी कि मत्स्यनरेश विराट का विशालकाय रसोइया वल्लभ वास्तव में भीमसेन ही है।

दुर्योधन का मन राज-काज से अधिक इस बात में लगता था कि किससे, कब और कैसे बदला लिया जाए! उसकी मूढ़ बुद्धि में यह विचार नहीं आता था कि व्यक्ति के जीवन में शांति से अधिक किसी बात का मूल्य नहीं होता। उसने हम सबको तुरंत मत्स्यदेश पर हमला करने का आदेश दिया। भीष्म और द्रोणाचार्य ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया कि पांडवों का अज्ञातवास पूर्ण हो चुका है और अब शर्त के अनुसार उनका राज्य उन्हें लौटा देना चाहिए, किंतु लोभी और मूढ़ दुर्योधन क्षति उठाकर भी अपने हठ को पूरा करता था। मैंने अपने पिता द्रोण की ओर असहाय दृष्टि से देखा किंतु राज्य-निष्ठा के भार से उनकी आँखें बोझिल थीं।

हस्तिनापुर के राजसिंहासन और उसके प्रति निष्ठा से बँधे समस्त लोगों ने अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाले और विराट पर आक्रमण के लिए कूच कर दिया। मुझे भी विवशता में भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, दुर्योधन, दुश्शासन के साथ जाना पड़ा। हम ज्यों ही मत्स्यदेश की सीमा तक पहुँचे, हमने देखा कि एक रथ हमारी ओर चला आ रहा था। रथ के ऊपर मत्स्यदेश की पताका लहरा रही थी किंतु आश्चर्य की बात यह थी कि सारथी के स्थान पर विराट का पुत्र उत्तर बैठा था और पीछे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अर्जुन खड़ा था! अज्ञातवास पूरा हो जाने के कारण पांडवों ने अपना असली रूप विराट के समक्ष प्रकट कर दिया था।

हस्तिनापुर की रंगभूमि में तो अर्जुन का युद्ध-कौशल सबने देखा था किंतु यह रंगभूमि नहीं थी। यह रण-भूमि थी! अर्जुन ने अपने धनुष की जो एक बार प्रत्यंचा चढ़ाई तो फिर किसी को सँभलने का अवसर नहीं मिला। हमें जिसका भय था, वही हुआ। सारे योद्धा एक के बाद एक धराशायी होते गए। हस्तिनापुर के सर्वश्रेष्ठ योद्धाओं को इतना असहाय मैंने पहले कभी नहीं देखा था। अर्जुन ने उत्तर के साथ मिलकर कुछ ही देर में हमारी दुर्दशा कर दी। लज्जा के आवरण से पराजय का मुँह ढँककर हम लोग हस्तिनापुर लौट आए।

मैं सोचता रहा, दुर्योधन के कुबुद्धि-जनित हठ के हाथों अभी और न जाने कब तक

कौरवों का इसी तरह अपमान होता रहेगा! उधर कौरव-सेना को परास्त करके उत्तर और अर्जुन, जब राजा विराट के पास लौटे तो उनका अभिनंदन होना स्वाभाविक था। बाद में, विराट ने अर्जुन की सहमति से अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु से कर दिया।

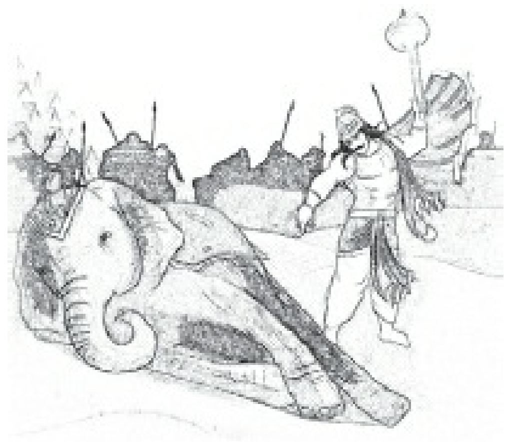

19

मैं और विदुर एक दिन उद्यान में टहलते हुए युद्ध की संभावनाओं पर चर्चा कर रहे थे। सहसा हमने देखा कि दुर्योधन अपने सफ़ेद घोड़े पर दौड़ता हुआ हमारे निकट आकर रुका। वह होंठ तिरछे कर मुस्करा रहा था मानो कोई बहुत बड़ा कार्य पूर्ण करके लौटा हो। वह केवल कपटपूर्ण योजनाएँ बनाते समय ही इस तरह मुस्कराता था इसलिए, उसे ऐसे मुस्कराता देख मुझे शंका होने लगी।

“अश्वत्थामा!” दुर्योधन अपनी भारी आवाज़ में बोला, “आज तुम्हें मेरी बुद्धि का लोहा मानना ही पड़ेगा।”

“मैं और विदुर जी तो सदा तुम्हारी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते हैं!” मैंने व्यंग्य किया जो कि दुर्योधन को समझ नहीं आया, “किंतु तुम इस समय कहाँ से लौट रहे हो, दुर्योधन?”

“मैं पांडवों के साथ होने वाले युद्ध के लिए सहायता माँगने वासुदेव कृष्ण के पास गया था!” दुर्योधन ने विदुर को देखकर कहा।

“श्रीकृष्ण के पास क्यों, युवराज?” विदुर ने आश्चर्य से पूछा।

"मुझे अपने गुप्तचरों से सूचना मिली थी कि अर्जुन, श्रीकृष्ण के पास युद्ध के लिए मदद माँगने जाने वाला है, तो मैंने सोचा कि इस कार्य में मैं पीछे क्यों रहूँ। इसलिए मैं अर्जुन के पहुँचने से पहले ही कृष्ण के पास पहुँच गया। अश्वत्थ मेरे मित्र, अब इस युद्ध में हमारी विजय निश्चित है!"

"अरे वाह! यह तो बहुत शुभ समाचार है दुर्योधन, किंतु पहले यह तो बताओ कि कृष्ण ने तुम्हें ऐसा क्या कह दिया जो तुमने युद्ध से पहले ही युद्ध का निर्णय भी जान लिया?" मैंने हँसते हुए पूछा। सच कहूँ तो मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि दुर्योधन जैसा जड़मति और अहंकारी व्यक्ति श्रीकृष्ण के द्वार पर सहायता माँगने चला गया और फिर वहाँ से विजयी होने का आशीर्वाद भी ले आया!

दुर्योधन ने अपनी मूँछों पर ताव दिया और कहा, "मैं जब कृष्ण के पास पहुँचा तो मैंने देखा वे सो रहे थे और अर्जुन तब तक वहाँ नहीं पहुँचा था। मैं बहुत ख़ुश हुआ और जल्दी से कृष्ण के सिर के समीप बैठ गया ताकि वे उठते ही मुझे देखें। मेरे पहुँचने के कुछ देर बाद, अर्जुन भी वहाँ आ गया। मुझे पहले बैठा देखकर अर्जुन का चेहरा उतर गया। मैं कृष्ण के सिराहने बैठा था तो वह कृष्ण के पैरों के पास बैठ गया और फिर हम दोनों कृष्ण के उठने की प्रतीक्षा करने लगे। शीघ्र ही, श्रीकृष्ण की निद्रा टूटी तो उन्हें हम दोनों को वहाँ बैठा देख थोड़ा अचरज हुआ।"

"अरे, अर्जुन और दुर्योधन! तुम दोनों कब आए? आज यहाँ कैसे आना हुआ?" श्रीकृष्ण ने हमसे वहाँ आने का प्रयोजन पूछा।

"कृष्ण, मैं आपसे आगामी महायुद्ध के लिए सहायता माँगने आया हूँ।" मैंने तपाक से उत्तर दिया।

"और अर्जुन, तुम यहाँ क्यों आए हो?" कृष्ण ने अर्जुन से पूछा।

अर्जुन ने पहले कृष्ण को प्रणाम किया और फिर आदरपूर्वक कहा, "केशव! मैं तो युद्ध से पहले केवल आपका आशीर्वाद लेने आया हूँ। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है!"

कृष्ण मुस्कराए और बोले, "तुम दोनों ही मुझे प्रिय हो और मैं तुम दोनों की सहायता करना चाहता हूँ। मैं तुम दोनों में से एक को अपनी नारायणी सेना दे सकता हूँ और दूसरी ओर, मैं अकेला रहूँगा, किंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न ही शस्त्र उठाऊँगा! मेरी दृष्टि चूंकि अर्जुन पर पहले पड़ी थी, इसलिए मैं उसे पहला अवसर दे रहा हूँ।"

दुर्योधन ने बताया, "यह सुनकर मैंने सोचा कि अर्जुन निश्चित रूप से कृष्ण से उनकी नारायणी सेना माँगेगा, किंतु मुझे लगता है कि तेरह वर्ष वन में कंद-मूल खाने से उसकी बुद्धि कुंठित हो गई है। उस मूर्ख ने कृष्ण से कहा, 'केशव! मुझे तो बस आपका साथ चाहिए। मैं चाहता हूँ कि युद्ध में आप मेरे सारथी बनें।' श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर हामी भर दी। स्वाभाविक रूप से, मुझे वह मिल गया जो मैं लेने गया था। कृष्ण की नारायणी सेना अब हमारी है!"

विदुर और मैंने एक-दूसरे को देखा। हमारा संदेह सही था। दुर्योधन ने पहली मूर्खता यह की थी कि वह श्रीकृष्ण के चरणों के निकट न बैठकर उनके सिर के पास जा बैठा था। इसके बाद, कृष्ण को खोकर, तथा उनके स्थान पर उनकी नारायणी सेना प्राप्त करके प्रसन्न होना दुर्योधन की दूसरी और अधिक बड़ी मूर्खता थी! मन में व्याप्त अहंकार और कपट के कारण दुर्योधन यह नहीं समझ पाया कि कृष्ण का पांडवों के पक्ष में होने का सीधा-सा अर्थ यह था कि हम लोग अधर्म के पक्ष में थे।

नर और नारायण के विरुद्ध युद्ध करके हम कौन-सी विजय का स्वप्न देख रहे थे? राज्य-निष्ठा का फंदा मेरे गले में कसता जा रहा था। मुझे अब किसी प्रकार के त्राण की आशा नहीं थी।

कौरवों और पांडवों के मध्य संभावित युद्ध की पदचाप सुनाई देने लगी थी। इसे लेकर दुर्योधन के मन में तरह-तरह के विचार आते थे। वह अधिकतर युद्ध को लेकर उत्साहित दिखाई देता था, किंतु जब कभी उसे मत्स्य देश की सीमा पर अर्जुन और उत्तर के साथ हुए युद्ध की याद आती थी तो उसका उत्साह ठंडा पड़ने लगता था। उस दिन अकेले अर्जुन ने समस्त कौरव योद्धाओं के हौसले पस्त कर दिए थे, तो यदि पाँचों पांडव और उनके साथ श्रीकृष्ण भी आ जाएँगे तो युद्ध का परिणाम कौरव पक्ष में होने की संभावना स्वाभाविक तौर पर नहीं के बराबर थी।

मुझे कभी-कभी ऐसा लगता था कि दुर्योधन को पांडवों के साथ हो रहे अन्याय एवं दुर्व्यवहार पर मन में खेद तो होता था और वह युद्ध को टालना भी चाहता था, परंतु उसका हठी व दुराग्रही स्वभाव उसे धर्म के सन्मार्ग पर आगे बढ़ने नहीं देता था।

इसी बीच एक दिन हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण के आगमन का समाचार आया। हालांकि कृष्ण का कुरुवंश के साथ पुराना संबंध था और उनका हस्तिनापुर में आना कोई अनहोनी घटना नहीं थी किंतु ऐसे समय में जबकि उन्होंने स्वयं को पांडव-पक्ष में और अपनी नारायणी सेना को कौरव-पक्ष में होने का वचन दे दिया था, उनका सहसा हस्तिनापुर आना अस्वाभाविक था। उनके आने के समाचार से दुर्योधन के मन में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसकी ख़ुशी देखकर मुझे लगा कि वह इस अवसर पर अपनी भूल को सुधारने का प्रयास करेगा और कृष्ण से क्षमा माँगने को उत्सुक होगा परंतु दुर्योधन के संदर्भ में मेरा अनुमान हमेशा ग़लत होता था! इसके विपरीत, उसकी मंदबुद्धि में न जाने कैसे, यह विचार आ गया कि यदि कृष्ण को राजसी सत्कार से प्रसन्न कर लिया जाए तो शायद वे सत्कार के बोझ से दबकर अपनी नारायणी सेना के साथ स्वयं भी कौरव-पक्ष में आ जाएँ। कुल मिलाकर, यह भी दुर्योधन की अनेक कुटिल योजनाओं में से एक थी।

उसने प्रसन्नता और आदर का छद्मावरण लपेटा और कृष्ण को रिझाने के लिए उन्हें अपने महल में अतिथि बनने के लिए आमंत्रित कर लिया। दुर्योधन डाल-डाल था तो कृष्ण पात-पात चलते थे! उन्होंने तुरंत दुर्योधन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और राजसी

सत्कार को छोड़कर महात्मा विदुर के घर में सामान्य ढंग से रहना पसंद किया। दुर्योधन की कपट-लीला विफल हो गई। वह ऊपर से तो सामान्य बना रहा किंतु इस बात पर कृष्ण से चिढ़ गया।

अगले दिन सुबह ही कृष्ण मुस्कराते हुए धृतराष्ट्र के राजदरबार में आ गए और सबको प्रणाम करके अपनी बात कह दी, “महाराज धृतराष्ट्र! मैं यहाँ वासुदेव कृष्ण बनकर नहीं, अपितु पांडवों का दूत बनकर आया हूँ और युधिष्ठिर की ओर से एक संधि-प्रस्ताव लाया हूँ। पांडव नहीं चाहते कि भारत का सबसे प्रभुत्वशाली कुरुवंश आपसी भेद-भाव और अहंकार की लड़ाई की भेंट चढ़ जाए। यदि दोनों पक्ष मिलकर रहें तो पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकते। युद्ध का परिणाम केवल विनाश होता है, इसलिए उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है ताकि आप अपने पुत्र दुर्योधन को समझाएँ कि वह अपना अनुचित हठ छोड़ दे और पांडवों को शांतिपूर्वक उनका राज्य लौटा दे।”

यद्यपि, धृतराष्ट्र कुछ अलग चाहता था, किंतु परिस्थिति को कौरवों के प्रतिकूल पड़ते देख उसने भी समस्त वयोवृद्ध सभासदों की भांति श्रीकृष्ण के इस शांति-प्रस्ताव का अभिनंदन किया। मैं इस प्रस्ताव से बहुत प्रसन्न था क्योंकि उस युद्ध के फलस्वरूप होने वाला संभावित विनाश किसी से छिपा नहीं था। उसी समय, शकुनि ने दुर्योधन के कान में कुछ कहा जिसे सुनकर दुर्योधन अपने आसन से उठ खड़ा हुआ।

“कदापि नहीं वासुदेव!” दुर्योधन गरजा, “जिस इंद्रप्रस्थ राज्य को पाने की आशा में उस कायर युधिष्ठिर ने आपको दूत बनाकर मेरे पास भेजा है, उस राज्य को मैंने द्यूत में जीता है। इस प्रकार वह राज्य, परिश्रम द्वारा अर्जित संपत्ति है। युधिष्ठिर अब इंद्रप्रस्थ पर अपना अधिकार खो चुका है। उसे स्वप्न में भी इंद्रप्रस्थ को वापस लेने का विचार नहीं करना चाहिए।”

“मैं जानता हूँ दुर्योधन,” श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाते हुए कहा, “तुमने और तुम्हारे मामा शकुनि ने इंद्रप्रस्थ को किस तरह छल से जीता है किंतु यह मत भूलो कि युधिष्ठिर न केवल तुम्हारा ज्येष्ठ भाई है, अपितु तुमने द्यूत में हारने का जो दंड तय किया था, उसे युधिष्ठिर ने नियमपूर्वक और पूरी निष्ठा के साथ भोगा है। अब उसका राज्य उसे लौटाना तुम्हारा कर्तव्य है।”

“नहीं कृष्ण!” दुर्योधन के तेवर तीखे होते जा रहे थे, “मैं एक बार जो निर्णय ले लेता हूँ, वह अंतिम होता है। मैंने कह दिया कि मैं पांडवों को उनका राज्य नहीं दूँगा। अब अच्छा यही होगा कि आप मेरा यह संदेश युधिष्ठिर को पहुँचा दें।”

“युधिष्ठिर अत्यंत मृदु और क्षमाशील व्यक्ति है,” श्रीकृष्ण ने फिर समझाया, “वह किसी भी स्थिति में तुमसे भूमि के लिए युद्ध नहीं करना चाहता। उसे शायद इस बात की आशंका पहले से है कि तुम इंद्रप्रस्थ राज्य लौटाने के लिए सहजता से तैयार नहीं होगे इसलिए उसने तुम्हें एक अन्य विकल्प भी दिया है। युधिष्ठिर अधिक भूमि की कामना नहीं

करता। उसने कहा है यदि तुम पूरा इंद्रप्रस्थ राज्य उसे नहीं लौटाना चाहते तो युधिष्ठिर को उसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। वे पाँच भाई हैं और इसलिए वे अपने रहने के लिए तुमसे केवल पाँच गाँव वापस माँग रहे हैं। तुम उन्हें अविस्थल, वृकस्थल, माकंदी, वारणावत और उनकी पसंद का कोई एक अन्य गाँव दे दो। इंद्रप्रस्थ का शेष राज्य तुम चाहो तो अपने पास रख सकते हो। बस, यह झगड़ा यहीं समाप्त हो जाएगा!"

यह सुनते ही मैंने राहत की साँस ली क्योंकि मेरे विचार से युधिष्ठिर का यह प्रस्ताव अत्यंत सहज था और मुझे विश्वास था कि उसे मान लेने में दुर्योधन को कोई आपत्ति नहीं होगी। सभी लोग दुर्योधन की 'हाँ' सुनने के लिए उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगे।

"कृष्ण!" दुर्योधन के तीखे स्वर में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ था, "तुम दूत हो, अपनी सीमा का उल्लंघन मत करो! क्या तुम्हें बार-बार 'नहीं' सुनना और अपमानित होना अच्छा लगता है? जाओ, और जाकर अपने प्रिय युधिष्ठिर से कह दो कि पाँच गाँव तो क्या, मैं उसे सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा! और तुम यह भी सुन लो, यदि तुमने एक शब्द भी और कहा तो मैं भूल जाऊँगा कि तुम हमारे संबंधी अथवा पांडवों के दूत हो और मुझे विवश होकर तुम्हें बंदी बनाना पड़ेगा!"

दुर्योधन की बात सुनकर सारा राजदरबार सन्न रह गया। यद्यपि श्रीकृष्ण को दुर्योधन से ऐसी ही हठधर्मिता की आशा थी, फिर भी अमर्यादित होने की भी कोई सीमा होती है!

श्रीकृष्ण के चेहरे के भाव बदलने लगे। वे बोले, "दुर्योधन! यह तो मुझे पता है कि तुम अज्ञानी हो परंतु तुम अहंकारवश इस तरह अपनी मर्यादा भूल जाओगे, यह मैंने नहीं सोचा था। यदि तुम समझते हो कि मैं अकेला हूँ और तुम मुझे बंदी बना लोगे तो यह तुम्हारी भूल है। सुनो दुर्योधन, समस्त पांडव, वृष्णि और अंधकवंशीय यादव यहीं मेरे साथ हैं। वे ही नहीं सारे आदित्य, रुद्र, वसु और समस्त महर्षिगण भी यहीं मेरे साथ उपस्थित हैं!"

इतना कहते ही कृष्ण ने एक ज़ोरदार अट्टहास किया और उनके सब अंगों से बिजली-सी कांति फूटने लगी। मैंने देखा कि उनका आकार बढ़ता जा रहा था। फिर उनके शरीर से इतना तीव्र प्रकाश निकला कि वहाँ बैठे सब लोगों ने अपनी आँखें मूँद लीं। मैं देख नहीं पाया कि वहाँ उस समय क्या घटित हुआ किंतु बाद में, मुझे पिता द्रोण ने बताया कि उन्होंने कृष्ण का विराट और अद्भुत ईश्वरीय रूप अपने दिव्य नेत्रों से देखा था। उन्होंने बताया कि श्रीकृष्ण के तन पर अंगुष्ठाकार देवता दिखाई दे रहे थे। उनके ललाट पर ब्रह्मा, वक्षस्थल पर रुद्र, भुजाओं में लोकपाल और मुख में अग्निदेव थे। आदित्य, साध्य, वसु, अश्विनीकुमार, इंद्र और उनके मरुद्गण, विश्वदेव तथा समस्त यक्ष, गंधर्व और राक्षस भी वहीं मौजूद थे। उनकी दोनों भुजाओं से बलभद्र और अर्जुन प्रकट हुए। उसी समय कृष्ण की अनेक भुजाएँ प्रकट हो गईं जिनमें उन्होंने शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शारंग, धनुष, हल और नंदक खड्ग धारण किए हुए थे। उनके नेत्र, नासिका और कर्णरंध्रों से बड़ी भीषण आग की लपटें तथा रोमकूपों में से सूर्य-सी किरणें निकल रही थीं। काश, मैं कृष्ण के विराट एवं दिव्य रूप के दर्शन कर

पाता!

कृष्ण का यह रूप कुछ ही पल के लिए रहा और उसके बाद, वे अपने सामान्य रूप में लौट आए। दुर्योधन के माथे से पसीना टपक रहा था। यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि श्रीकृष्ण की दिव्यता ने उसके रोम-रोम को आक्रांत कर दिया था और उसकी वाणी मौन हो गई थी। वह चुपचाप खड़ा कृष्ण को देखता रहा। दुर्योधन को इस तरह भयभीत देखकर श्रीकृष्ण हलका-सा मुस्कराए और केवल इतना बोले, “युद्ध की तैयारी कर लो, दुर्योधन!” इससे पहले कि भीष्म, द्रोण और विदुर उन्हें रोक पाते, श्रीकृष्ण कौरव-राजसभा से जा चुके थे। मैं समझ गया कि श्रीकृष्ण के साथ, कौरवों का भाग्य भी उनकी पराजय की भूमिका लिखकर कुरु राजसभा से सदा के लिए विदा हो चुका था!

इस घटना के बाद यह तय हो गया कि दुर्योधन ने पांडवों का राज्य वापस न देने का निश्चय कर लिया था। इसका अर्थ यह था कि कुरुवंश एक महान युद्ध की ओर अग्रसर हो रहा था जिसमें भाई एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो चुके थे। भारतवर्ष का सबसे शक्तिशाली राजपरिवार अपने नेत्रहीन राजा के अधर्मी पुत्र के मोह का शिकार होकर बाण से बिंधे हिरण-सा आहत, अपने अंत समय की प्रतीक्षा कर रहा था!

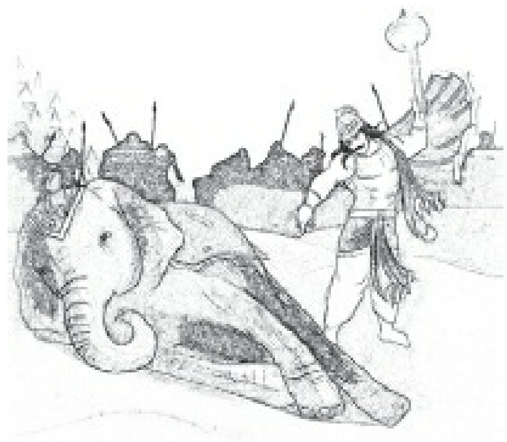

20

कौन जानता था कि कुरुक्षेत्र के भूमि-खंड पर भारतवर्ष के सर्वाधिक शक्तिशाली राजपरिवार के विनाश की गाथा लिखी जा रही थी? कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी और पांडवों की सात अक्षौहिणी सेनाओं ने आमने-सामने पड़ाव डाल दिए थे। कौरव सेना की कमान जहाँ उसके सबसे वयोवृद्ध योद्धा पितामह भीष्म के हाथ में थी, वहीं कृष्ण के परामर्श पर धृष्टद्युम्न को पांडवों का सेनापति नियुक्त किया गया था।

मैं भीष्म को सर्वश्रेष्ठ योद्धा के अतिरिक्त एक सुलझा हुआ व्यक्ति भी मानता था। हालांकि जब दुर्योधन ने उनसे सेनापति बनने का आग्रह किया तो उसके उत्तर में भीष्म ने ऐसी बात कह दी, जिसे सुनकर सब विचलित हो गए। वे बोले, “वैसे तो मैंने अपने प्रिय पांडु के पुत्रों से युद्ध करने का सदा ही विरोध किया है, किंतु अब जब इस हठी और अभिमानी दुर्योधन के कारण यह युद्ध हमारे ऊपर थोप दिया गया है, तो मैं इसका नेतृत्व करने के लिए तैयार हूँ। परंतु इसके लिए मेरी एक शर्त है। मैं युद्ध में तभी भाग लूँगा यदि यह सूतपुत्र कर्ण रणभूमि से बाहर रहेगा!”

गंगापुत्र भीष्म भीषण प्रतिज्ञाएँ लेने और उन्हें निष्ठापूर्वक निभाने के लिए विख्यात थे।

परंतु ऐसे समय में, जबकि यह युद्ध समूचे कुरुवंश के अस्तित्व का प्रश्न बन गया था, पितामह की यह शर्त मुझे सर्वथा अनुचित जान पड़ी। मैं स्वयं दुर्योधन के कपट और दुष्कर्मों का विरोधी था, किंतु मैंने कभी मुखर होकर उसका विरोध नहीं किया। तथापि इस अवसर पर मुझसे चुप नहीं रहा गया।

मैंने भीष्म से कहा, "पितामह! आप इस परिवार में सबसे अनुभवी एवं पूजनीय हैं इसलिए मैं आपकी प्रत्येक बात का हृदय से सम्मान करता हूँ, किंतु आपकी यह शर्त मुझे उचित नहीं लगती। आपका कर्ण से किसी भी बात पर अथवा कितने भी विषयों पर वैचारिक मतभेद हो सकता है, किंतु अभी हम युद्धभूमि में खड़े हैं और इस समय, हमें संगठित होकर लड़ने की आवश्यकता है। क्या इस तरह आपसी मतभेदों को बीच में लाने से हमारी शक्ति का क्षरण नहीं होगा? क्या उन मतभेदों पर युद्ध के बाद विचार नहीं किया जा सकता?"

"युद्ध के बाद...?" भीष्म ने मुझे बीच में टोका, "अश्वत्थामा! इस महायुद्ध के बाद किसी बात पर विचार करने के लिए न तुम जीवित रहोगे, न मैं, न दुर्योधन और न ही यह सूतपुत्र कर्ण! इसने दुर्योधन का साथ देकर न केवल उसके दुस्साहस को दृढ़ किया है, अपितु उसे कई अनुचित कार्यों के लिए जाने-अनजाने प्रेरित भी किया है!"

"यह बात ठीक है, पितामह!" मैंने फिर से अपनी बात रखी, "हो सकता है कर्ण से भूल हुई हो, यह भी हो सकता है कि कर्ण के सामर्थ्य के भरोसे ही दुर्योधन इस युद्ध को लड़ने का दुस्साहस कर रहा हो, फिर भी अब इन सब बातों के लिए देर हो गई है। मेरा मानना है कि कर्ण अत्यंत वीर और कुशल योद्धा है और कर्ण की सहायता के बिना हमारे लिए यह विकट युद्ध जीतना संभव नहीं होगा। इसलिए मेरा आपसे आग्रह है कि इस प्रकार की शर्त रखकर इस कठिन युद्ध को कौरवों के लिए और अधिक दुष्कर मत बनाइए!"

"अश्वत्थामा!" भीष्म का स्वर पहले से भी ज़्यादा तीखा था, "क्षत्रिय के लिए युद्ध सरल या कठिन नहीं होता, वह बस युद्ध होता है। मैं चाहूँ तो इस पृथ्वी को अकेला ही जीत सकता हूँ और इसके लिए न मुझे तुम्हारे परामर्श की आवश्यकता है और ही इस सूतपुत्र की सहायता की! यदि तुम मुझे कौरवों का सेनापति बनाना चाहते हो तो यही मेरी शर्त है कि कर्ण को रणभूमि में उतरने से पूर्व मेरी मृत्यु की प्रतीक्षा करनी होगी!" यह कहकर भीष्म ने इस दुविधा को और पेचीदा बना दिया क्योंकि भीष्म की मृत्यु उनके अपने हाथ में थी! उन्हें आजीवन ब्रह्मचारी रहने की अपनी भीषण प्रतिज्ञा के लिए उनके पिता महाराज शांतनु ने उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान दिया था।

क्या इसका अर्थ यह था कि कर्ण का युद्ध-कौशल कौरव-शिविर में बैठकर भीष्म की मृत्यु की प्रतीक्षा करते-करते क्षय होने वाला था? ऐसे संकट के समय में भीष्म को कर्ण से इतनी वितृष्णा क्यों थी? क्या भीष्म के मन के किसी कोने में कर्ण के प्रति ईर्ष्या व्याप्त थी? क्या अपने से आधी आयु के महारथी को युद्ध-कौशल में अपने समकक्ष देखकर भीष्म के अहं को ठेस लगती थी? क्या उन्हें अपना बाहुबल क्षुद्र जान पड़ रहा था? मेरे पिता द्रोण ने

मुझे संकेत से शांत कर दिया। मैंने पहली बार पराक्रमी भीष्म के विकट व्यक्तित्व में दुर्बलता का पुट देखा था!

दुर्योधन के चेहरे पर उदासी छा गई। उसने जिस उद्देश्य से कर्ण को अंग देश का राजा बनाया था, वह उद्देश्य विफल होने जा रहा था और कर्ण के सहारे की जिस आशा का संबल थामकर वह पांडवों के साथ भीषण युद्ध में उतरने जा रहा था, वह संबल युद्ध से पूर्व ही लड़खड़ा गया था।

दुर्योधन को भीष्म के नेतृत्व तथा कर्ण के बाहुबल में से किसी एक का चयन करना था। मैंने महसूस किया कि दुर्योधन को दुविधा में फँसा और कर्ण को विवशता में जकड़ा देख भीष्म को एक प्रकार से निर्मम सुख मिल रहा था। भीष्म ने अपनी प्रसन्नता को छिपाते हुए दुर्योधन से कहा, “हताश न होओ, पुत्र! मैं जानता हूँ कि तुम युद्धभूमि में कर्ण की अनुपस्थिति से शत्रु को मिलने वाले लाभ को लेकर चिंतित हो, किंतु मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मैं प्रतिदिन पांडवों के असंख्य सैनिकों का वध करूँगा और यह प्रयास करूँगा कि तुम्हें युद्धभूमि में कर्ण का अभाव न महसूस हो! यद्यपि, पांडव मुझे अतिप्रिय हैं, मैं तुम्हें यह वचन भी देता हूँ कि रणभूमि में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करूँगा तथा शिखंडी के अतिरिक्त मेरे सामने जो भी आएगा, मैं उसे यमलोक पहुँचा दूँगा!”

शिखंडी! मैंने यह नाम पहली बार सुना था, परंतु मुझे छोड़कर वहाँ उपस्थित किसी भी व्यक्ति के चेहरे पर आश्चर्य का भाव नहीं आया। इसका अर्थ था कि वहाँ केवल मुझे ही शिखंडी के विषय में पता नहीं था। आख़िर यह शिखंडी कौन था, जिससे धरती के सर्वश्रेष्ठ योद्धा भीष्म ने युद्ध करने से पहले ही हार मान ली थी? शिखंडी ने मेरा कौतूहल जगा दिया।

युद्ध-शिविर में, मेरे रहने की व्यवस्था अपने पिता द्रोण के साथ की गई थी। मैंने उसी रात शिखंडी के विषय में अपनी जिज्ञासा को शांत करने का निश्चय कर लिया।

“पिताजी!” मैंने पूछा, “क्या आपने पितामह भीष्म को यह कहते सुना था कि वह शिखंडी के अतिरिक्त, किसी शत्रु को जीवित नहीं छोड़ेंगे?”

“हाँ पुत्र, मैंने सुना था,” द्रोण ने कहा।

“... लेकिन यह शिखंडी कौन है? भीष्म के साथ उसका ऐसा क्या संबंध है कि भीष्म युद्ध से पहले ही शिखंडी के सामने समर्पण करने का निश्चय किए बैठे हैं?”

“यह बहुत लंबी और पुरानी कथा है अश्वत्थ!” पिताजी ने एक दीर्घ निश्वास के साथ कहा, “मैं तुम्हें संक्षेप में बता देता हूँ। भीष्म का शिखंडी के साथ पूर्वजन्म का संबंध है। उस समय, काशी के राजा की तीन कन्याएँ थीं - अंबा, अंबिका और अंबालिका। काशी नरेश ने उन तीनों का एक साथ विवाह करने का निर्णय लिया और एक स्वयंवर रचा जिसमें तत्कालीन सभी पड़ोसी राजाओं को आमंत्रित किया गया ताकि तीनों राजकुमारियाँ, अपनी-अपनी पसंद से अपना वर चुन सकें। उन दिनों गंगापुत्र भीष्म युवा थे, किंतु वे अपने पिता

शांतनु की ख़ुशी के लिए आजीवन ब्रह्मचारी रहने और हस्तिनापुर के राजसिंहासन की रक्षा का वचन दे चुके थे। हालांकि शांतनु और सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य विवाह-योग्य था, परंतु काशी नरेश ने उस स्वयंवर में किन्हीं कारणों से हस्तिनापुर के युवराज को आमंत्रित नहीं किया। इस अपमान से रुष्ट होकर भीष्म अकेले ही स्वयंवर में पहुँच गए। उन्होंने काशी नरेश और समस्त राजागण के समक्ष न केवल हस्तिनापुर के अपमान का विरोध किया, अपितु सबके सामने से बलपूर्वक तीनों राजकुमारियों को अपने रथ में बैठाकर हस्तिनापुर ले आए ताकि विचित्रवीर्य से उनका विवाह किया जा सके।

"काशी नरेश की तीनों पुत्रियों में से अंबिका और अंबालिका ने भयभीत होकर भीष्म के दबाव में विचित्रवीर्य से विवाह कर लिया, किंतु तीसरी बहन अंबा, पहले से शाल्वराज से प्रेम करती थी और मन में उसे अपना पति मान चुकी थी। इस कारण, उसने विचित्रवीर्य के साथ विवाह करने से मना कर दिया। जब भीष्म को इस बात का पता लगा तो उन्हें अपने किए पर दुख हुआ और उन्होंने अंबा को तत्काल आदरपूर्वक शाल्वराज के पास भेज दिया। अंबा जब शाल्वराज के पास गई तो उसने कहा कि चूंकि भीष्म उसे बलपूर्वक अपने साथ ले गए थे, इसलिए अब अंबा पर उसका कोई अधिकार नहीं है और अंबा को भीष्म के ही पास जाना चाहिए। अंबा ने शाल्वराज को समझाने का बहुत प्रयास किया किंतु शाल्वराज ने उसकी एक न सुनी। विवश होकर, दुखी मन से अंबा दोबारा भीष्म के पास आई और उसने भीष्म को सारी बात बताई तथा अपनी दुर्दशा के लिए भीष्म को दोषी ठहराया। अंबा ने यह भी कहा कि उसकी मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा करना भीष्म का दायित्व है। अंबा ने भीष्म के सामने विवाह का प्रस्ताव रख दिया। परंतु भीष्म ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे, इसलिए उन्होंने भी अंबा को अपनाने से मना कर दिया। इस प्रकार भीष्म द्वारा आवेश में हुई भूल के कारण अंबा बार-बार अपमानित हुई और उसका जीवन नष्ट हो गया।"

"किंतु पिताजी," मैंने द्रोण को बीच में टोकते हुए कहा, "अंबा की यह बात ठीक थी कि भीष्म के उन्माद और आवेश के चलते ही अंबा का जीवन नष्ट हुआ। मेरे विचार से उस समय भीष्म का नैतिक दायित्व यह था कि वे अपनी प्रतिज्ञा की आहुति देकर निरपराध अंबा की लज्जा पर लगे कलंक को मिटा सकते थे एवं शाल्वराज द्वारा त्याग दिए जाने के बाद अंबा से विवाह कर सकते थे। ...फिर क्या हुआ पिताजी?"

"पुत्र, तुम ठीक कहते हो। भीष्म का नैतिक कर्तव्य यही था और ईश्वर ने उन्हें अपने कर्म के परिष्कार का अवसर भी दिया था। दुर्भाग्य से भीष्म को अपनी प्रतिज्ञा, अंबा के अपमान से अधिक प्रिय थी, इसलिए उन्होंने न केवल अपनी भूल स्वीकार करने से मना कर दिया, अपितु अंबा को न अपनाकर उसका जीवन नष्ट करने का घोर पाप भी किया। शाल्व द्वारा त्याग दिए जाने से अंबा बहुत दुखी थी, किंतु भीष्म के हाथों मिली लज्जा और अपमान के शूल ने अंबा के हृदय को छलनी कर दिया था। उसने शाल्व को तो भुला दिया किंतु वह भीष्म को उनके अपराध के लिए क्षमा नहीं कर सकी। उसने भीष्म से प्रतिशोध लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।"

“अंबा को किसी ऐसे महारथी की तलाश थी जो उस अबला के लिए विश्व-विजेता भीष्म से टक्कर ले पाता। वह एक स्थान से दूसरे स्थान, एक राज्य से दूसरे राज्य में भटकती रही। जो भी उसकी व्यथा को सुनता, वह विचलित हो जाता तथा अंबा की सहायता के लिए उसकी बाँहें फड़कने लगतीं, किंतु भीष्म को परास्त करने का विचार मन में आते ही भीतर का सामर्थ्य ऐसे तिरोहित हो जाता मानो जल से भरे बर्तन में अचानक छेद हो जाने से उसमें से पानी निकल जाता है!”

“अंत में अंबा अपने नाना होत्रवाहन के सुझाव पर भीष्म के गुरु तथा ऋषि जमदग्नि के पुत्र, परशुराम के पास सहायता माँगने गई। परशुराम ब्राह्मण थे किंतु अत्यंत क्रोधी थे और क्षत्रियों से युद्ध करने को सदा आतुर रहते थे। उन्होंने अंबा की व्यथा सुनी तो वे तत्काल उसकी मदद के लिए तैयार हो गए। उन्होंने पहले भीष्म से आग्रह किया कि वे अंबा को स्वीकार कर लें। परंतु भीष्म के मना करने पर परशुराम क्रोधित हो गए और फिर बात ऐसी बिगड़ी कि युद्ध तक पहुँच गई!”

“परशुराम और भीष्म के बीच युद्ध हुआ?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“हाँ!” पिताजी बोले, “उन दोनों महारथियों के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसे देवताओं समेत पूरे संसार ने देखा। अंत में, जब कई दिन के बाद भी हार-जीत का निर्णय नहीं हो सका तो भीष्म की माता गंगा के हस्तक्षेप के बाद इसे रोक दिया गया। परशुरामजी भी अंबा को न्याय नहीं दिलवा सके। अंबा के धैर्य का बाँध टूट चला था। समय ने उसके घाव भरने के बजाय और गहरे कर दिए थे। भीष्म से प्रतिशोध की उसकी इच्छा ने रौद्र रूप धारण कर लिया और वह भीष्म को पराजित करने का नहीं, अपितु उनके वध का उपाय खोजने लगी। जब मनुष्य को मनुष्य से सहायता की आशा नहीं रहती तो वह ईश्वर की शरण में जाता है। अंबा ने भी अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु यमुना-तट पर कठिन तप आरंभ कर दिया। छह माह तक केवल वायु पर और फिर एक वर्ष तक निराहार रहकर उसने यमुना जल में तप किया। इसके बाद उसने एक वर्ष तक वृक्ष से गिरे हुए पत्ते खाकर और पैर के अँगूठे पर खड़े रहकर अपनी तपस्या जारी रखी। उसने बारह वर्ष की कठिन तपश्चर्या से आकाश और पृथ्वी को संतप्त कर दिया। उसके घोर तप के प्रभाव से उसका आधा शरीर अंबा नाम की नदी हो गया और शेष आधे शरीर से उसने वत्सदेश के राजा की कन्या के रूप में जन्म ले लिया। अपने उस जन्म में भी उसने तप नहीं छोड़ा तो आख़िर उमापति भगवान शंकर ने उसको दर्शन दिए। उसने वरदान में भगवान शिव से भीष्म का वध करने का उपाय पूछा। तब भगवान शंकर ने अंबा से कहा कि भीष्म को इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त है, इसलिए वे अंबा को भीष्म के वध का वरदान तो नहीं दे सकते किंतु उन्होंने अंबा को यह वचन दिया कि वह अपने अगले जन्म में, युद्ध के दौरान भीष्म के वध का कारण बनेगी!”

“परंतु फिर अंबा का क्या हुआ?” मेरी उत्सुकता को पंख लग चुके थे और मैं उस कथा को पूरा सुने बिना सोना नहीं चाहता था।

“शिव से वरदान पाकर अंबा को यह विश्वास हो गया कि उसे भीष्म का अंत करने के लिए अगला जन्म लेना पड़ेगा और इसके लिए अपने वर्तमान जीवन का अंत करना आवश्यक था। अंबा अपने उद्देश्य के प्रति इस सीमा तक समर्पित थी कि उसने एक क्षण की देर किए बिना स्वयं अपने लिए चिता तैयार की तथा उसमें जलकर भस्म हो गई।”

“फिर क्या अंबा ने दोबारा जन्म लिया, पिताजी? वह अब कहाँ है?” मैंने पूछा।

“हाँ पुत्र! अंबा ने अपना अगला जन्म पंचाल नरेश द्रुपद के घर में लिया।”

“राजा द्रुपद?” मेरी अधीरता बढ़ती जा रही थी, “किंतु द्रुपद की तो दो ही संतान हैं - धृष्टद्युम्न और द्रौपदी! तो फिर अंबा...?”

“धैर्य रखो पुत्र, बता रहा हूँ!” द्रोणाचार्य बोले, “यह अर्द्धसत्य है कि द्रुपद की दो संतान हैं। पूर्ण सत्य यह है कि धृष्टद्युम्न और कृष्णा से पहले, अंबा ने द्रुपद के घर में कन्या-रूप में जन्म लिया था। उसी कन्या का नाम शिखंडी है!”

“तो क्या शिखंडी स्त्री है? परंतु पितामह भीष्म तो कह रहे थे कि वो युद्ध में शिखंडी पर वार नहीं करेंगे... शिखंडी स्त्री होकर युद्ध में कैसे भाग लेगी?” मेरी जिज्ञासा अपनी सीमाएँ लाँघ चुकी थी।

“यह भी एक रहस्य है, पुत्र!” पिता द्रोण ने कहा, “शिखंडी का जन्म कन्या के रूप में ही हुआ था, किंतु द्रुपद के अंदर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा इतनी प्रबल थी कि उसने लोगों के बीच यह प्रचार किया कि शिखंडी कन्या नहीं, पुत्र है। इसके अतिरिक्त, अपने झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए द्रुपद ने शिखंडी को आरंभ से ही पुत्र के संस्कार दिए और पुत्र की ही भांति उसका पालन-पोषण किया। इसका परिणाम अत्यंत भयंकर हुआ।”

“कुछ समय बाद शिखंडी विवाह-योग्य हो गई किंतु द्रुपद के अपने प्रचार के कारण लोग शिखंडी को युवक ही समझते थे। इस बीच, दशार्णराज हिरण्यवर्मा ने शिखंडी (जिसे वह युवक समझता था) के साथ अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव भेजा। द्रुपद दुविधा में पड़ गया परंतु उसके लिए अपनी प्रतिष्ठा और लोक-लाज का बोझ इतना अधिक हो चुका था उसने विवशता में हिरण्यवर्मा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया!”

“क्या! द्रुपद ने ऐसी मूर्खता कर डाली? स्त्री का स्त्री से विवाह हो गया?” मुझे इस कथा पर मानो विश्वास नहीं हो रहा था।

“हाँ पुत्र, नियति की यही इच्छा थी!” द्रोण बोलते रहे। “विवाह के उपरांत जो अपेक्षित था, वही हुआ। शिखंडी की पत्नी ने अपने पिता दशार्णराज को सच बता दिया, जिसके फलस्वरूप दशार्णराज ने शिखंडी को बुरी तरह अपमानित किया। शिखंडी ने लज्जित होकर घर त्याग दिया तथा वन में जाकर रहने लगी। वहीं उसकी भेंट स्थूणाकर्ण नाम के एक यक्ष से हुई। शिखंडी ने उसे अपनी व्यथा सुनाई तो यक्ष को उसके ऊपर दया आ गई। उसने शिखंडी का स्त्री-रूप लेकर, उसे कुछ समय के लिए अपना पुरुषत्व दे दिया ताकि शिखंडी,

दशार्णराज को अपने पुरुष होने का विश्वास दिलाकर अपने ऊपर लगे अपमान का धब्बा मिटा सके। यक्ष और शिखंडी में यह समझौता भी हुआ कि कार्य पूरा होने के बाद शिखंडी लौटकर यक्ष को उसका पुरुषत्व लौटा देगी। इसके बाद यक्ष ने शिखंडी का स्त्री-रूप ले लिया और देखते ही देखते अबला शिखंडी ने युवा पुरुष का रूप धारण कर लिया!"

"यह तो लिंग परिवर्तन का अद्भुत उदाहरण है, पिताजी!" मैंने आश्चर्य से कहा, "उसके बाद क्या हुआ?"

"इसके बाद," द्रोण ने कथा आगे बढ़ाते हुए कहा, "शिखंडी सीधा दशार्णराज के पास आया और अपनी पौरुष-परीक्षा उत्तीर्ण करके उसने दशार्णराज के संदेह को ग़लत सिद्ध कर दिया। यक्ष से हुई संधि के अनुसार, शिखंडी जब दोबारा वन में लौटा तो उसने देखा कि यक्ष स्थूनाकर्ण विलाप कर रहा था। शिखंडी ने उससे कारण पूछा तो यक्ष बोला कि एक दिन यक्षराज कुबेर उस वन में आया था और स्थूनाकर्ण को स्त्री-रूप में देखकर उसे बहुत हैरानी हुई और जब उसे शिखंडी के साथ किए लिंग परिवर्तन का पता लगा तो उसने ग़ुस्से में स्थूनाकर्ण को शाप दे दिया कि उसे अब स्त्री बनकर ही रहना पड़ेगा तथा शिखंडी की मृत्यु के बाद ही उसे अपना पुरुषत्व वापस मिल पाएगा। स्थूनाकर्ण को हुई असुविधा के लिए शिखंडी दुखी तो हुआ किंतु वह असहाय था। इसके बाद, युवक शिखंडी अपने पिता द्रुपद के पास पंचाल लौट आया।"

"...किंतु आपको यह सब कैसे पता है?" मुझे लगा मैंने यह प्रश्न अपने पिता से बहुत देर में पूछा।

"शिखंडी के पंचाल वापस लौटने पर द्रुपद बहुत प्रसन्न हुआ और उसने धृष्टद्युम्न के साथ शिखंडी को धनुर्विद्या सीखने मेरे पास भेजा था। तुम्हें यह सब इसलिए नहीं पता क्योंकि उन दिनों तुम कुरुवंश के राजकुमारों के साथ प्रवास पर गए हुए थे और तुम्हारे वापस आने से पूर्व, शिखंडी तथा धृष्टद्युम्न अपनी शिक्षा पूरी करके लौट चुके थे।"

"ओह! तो भीष्म पितामह, शिखंडी पर इसलिए वार नहीं करेंगे क्योंकि वे जानते हैं कि पुरुष-रूप में शिखंडी वास्तव में स्त्री है?"

"हाँ पुत्र!" द्रोण बोले, "और शायद इसी तरह भीष्म की मृत्यु का निमित्त बनकर शिखंडी के रूप में अंबा अपना प्रतिशोध पूर्ण कर पाएगी!" पिता द्रोण ने रहस्य की अंतिम पर्त हटाते हुए कहा।

हम सब भी तो अपने पूर्वजन्मों में स्त्री या पुरुष रह चुके हैं तो क्या किसी पुरुष को, जो पूर्वजन्म में स्त्री था, पुरुष न मानकर स्त्री ही मानते रहना बुद्धिमत्ता है? अतीत व पूर्वजन्मों के तंतु परस्पर गुँथकर किस प्रकार वर्तमान के विन्यास एवं भविष्य की रचना करते हैं? क्या शिखंडी के लिए भीष्म के इच्छा-मृत्यु के कवच को भेद पाना संभव होगा? यही सब सोचते-सोचते मेरी आँख लग गई।

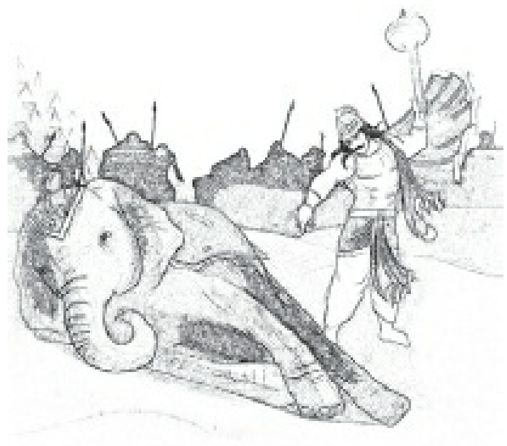

21

अगले दिन प्रातः युद्ध आरंभ होने वाला था। उस महायुद्ध के कुछ नियम तय किए गए थे। यह निश्चय किया गया कि सूर्यास्त के बाद युद्ध रोक दिया जाएगा और दोनों पक्षों के लोग एक-दूसरे से निर्भय होकर मिल सकेंगे; सेना छोड़कर बाहर जाने वालों को ऐसा करने की अनुमति दी जाएगी; भयभीत अथवा अचेत व्यक्तियों पर वार नहीं किया जाएगा; ऐसे लोगों पर, जिनके अस्त्र-शस्त्र और कवच नष्ट हो गए हों, जो शरणागत हों अथवा जो युद्ध छोड़कर भाग रहे हों, वार नहीं किया जाएगा। यह भी स्पष्ट किया गया कि जिसने अस्त्र-शस्त्र नीचे रख दिए हों, उस पर प्रहार नहीं किया जाएगा।

रणभूमि में जब युद्ध के नियम निर्धारित किए जा रहे थे, उस समय धृतराष्ट्र अपने राजमहल में व्याकुल हो रहा था। कुरुवंश में होने वाले उस महायुद्ध की नींव रखने में उसकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, किंतु विकलांगता के चलते, युद्ध में भाग लेना तो दूर, प्रकृति ने उसे युद्ध की घटनाओं को देखने से भी वंचित कर दिया था। सबको पता था कि युद्ध में विजय उसी की होगी जिसके साथ धर्म होगा। ज्ञानीजन यह भी जानते थे कि वासुदेव कृष्ण, सदा धर्म के साथ होते हैं और उसी धर्म का साथ देने के लिए उस युद्ध में कृष्ण ने अपनी

नारायणी सेना तक को त्याग दिया था और वे अकेले पांडवों के साथ खड़े हो गए थे। धृतराष्ट्र को छोड़कर अन्य सभी को कौरव-पक्ष की पराजय का पूर्वाभास था, किंतु पुत्र-मोह और राजभोग की लिप्सा ने अंधे धृतराष्ट्र को विवेक से वंचित कर दिया था। उसे विश्वास था कि भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और कृष्ण की नारायणी सेना के सहयोग से उसके उन्मादी पुत्र दुर्योधन के लिए वह युद्ध जीतना कठिन नहीं होगा।

यद्यपि धृतराष्ट्र जानता था कि उसे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु अपने तथा अपने अनुज पांडु के पुत्रों के रक्तपात के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलने वाला था, तथापि उसके मन में उस भीषण रक्तपात को देखने की इच्छा थी। उसने त्रिकालदर्शी वेदव्यास को स्मरण किया और उनसे उस युद्ध को देखने की इच्छा व्यक्त की। वेदव्यास ने धृतराष्ट्र से कहा कि यदि उसकी इच्छा हो तो वे उसे युद्ध को देखने के लिए दिव्यदृष्टि दे सकते हैं। परंतु अचानक धृतराष्ट्र को लगा कि उसे पांडवों के साथ-साथ न जाने अपने भी कितने पुत्रों के शव और विक्षिप्त तन देखने पड़ेंगे इसलिए सोच-विचार के बाद, उसने वेदव्यास से कहा कि वे उसके मंत्री संजय को दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दें ताकि संजय महल में बैठकर युद्ध देख सके और धृतराष्ट्र को वहाँ हो रही विनाश-लीला का आँखों देखा हाल सुना सके। वेदव्यास ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और फिर संजय ने ही धृतराष्ट्र को महाभारत के युद्ध का पूरा वर्णन विस्तार से सुनाया था।

इस युद्ध के विषय में पहले भी बहुत कहा-सुना जा चुका है और मुझे लगता है कि उन सब बातों को यहाँ दोहराने का कोई अर्थ नहीं है। हालांकि कुछ घटनाएँ मेरे अपने जीवन से जुड़ी हुई हैं, इसलिए इस कथा को आगे बढ़ाने के लिए उनका उल्लेख करना आवश्यक है।

संजय ने धृतराष्ट्र को बताया कि रणभूमि में युद्ध के नियम-निर्धारण के बीच शंखनाद हुआ और फिर कौरव तथा पांडवों के बीच वह महासंग्राम आरंभ हो गया। रणभूमि में, अश्वों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड़ और सैनिकों की चीख़-पुकार के अतिरिक्त कुछ सुनाई नहीं दे रहा था। रथी से रथी, महारथी से महारथी और अतिरथी से अतिरथी लड़ रहे थे। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य के रथ, पूरे मैदान में आँधी की भांति घूम रहे थे। बाणों की वर्षा से युद्ध के पहले दिन ही रणभूमि शवों से पट गई। ऐसा लग रहा था मानो आकाश से रक्त की वर्षा हुई थी, जिससे भूमि का रंग लाल हो गया था। कौरव योद्धाओं की तरह, पांडवों की ओर से भी भयंकर बाण-वर्षा हो रही थी। पांडवों की ओर से, अर्जुन के युद्ध-कौशल तथा भीम के भीषण गर्जना के सामने किसी का टिक पाना मुश्किल हो गया था। पहले ही दिन दोनों ओर से सैंकड़ो सैनिक एवं योद्धा मारे गए और उससे भी अधिक संख्या में गंभीर रूप से घायल हो गए। युद्ध इसी प्रकार चलता रहा और प्रतिदिन सैंकड़ो की संख्या में योद्धा घायल होते और मरते रहे। उस महासंग्राम ने इतना भीषण रूप धारण कर लिया कि मृतकों की गिनती करना अथवा उनके विषय में विचार करना भी व्यर्थ था।

आपको युद्ध की एक महत्त्वपूर्ण घटना सुनाता हूँ। भीष्म अपनी प्रतिज्ञानुसार पांडवों की सेना पर कहर बनकर टूट पड़े थे। उनके सामने बड़े-बड़े महारथी, असहाय और हतबुद्धि

दीख रहे थे। यहाँ तक कि अर्जुन, जिसके रथ का संचालन स्वयं भगवान श्रीकृष्ण कर रहे थे, भीष्म को रोक नहीं पा रहा था। एक समय तो ऐसा आया कि भीष्म के नेतृत्व में अनेक योद्धाओं और महारथियों ने एक साथ अर्जुन को घेर लिया। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संकट में फँसा देखा तो सहसा न जाने क्या हुआ, कृष्ण बिजली की फुर्ती से रथ से नीचे कूद पड़े और अगले ही क्षण मैंने देखा कि उनके हाथ में सुदर्शन चक्र चमक रहा था। उनके पैरों की धमक से भूमि काँपने लगी। उनके श्याम तन पर फहराता हुआ पीत वस्त्र काले वर्षा-मेघों के बीच विद्युत-किरण के समान चमक रहा था। उनका रौद्र रूप देखकर सबके मन में शिशुपाल-वध की स्मृति ताज़ा हो आई और भय ने रणभूमि में अपने पैर पसार दिए।

कृष्ण का विध्वंसकारी रूप देखकर सब लोग आतंकित दिख रहे थे। परंतु भीष्म तनिक भी नहीं घबराए। उन्होंने हाथ जोड़कर कृष्ण से कहा, “हे चक्रधारी माधव! आप इस संपूर्ण जगत के स्वामी हैं और सबको शरण देते हैं। आपके हाथ से यदि मैं मारा गया तो मेरे लिए इससे अधिक सौभाग्य की बात क्या होगी! आइए प्रभु, मेरे प्राण लेकर मेरा गौरव बढ़ाइए!” हज़ारों सैनिकों को प्रतिदिन मार गिराने वाले भयंकर भीष्म की सहृदय आँखें भक्ति व प्रेम से गीली हो गई थीं। कृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र अब भी घूम रहा था और उनका चेहरा क्रोध से लाल था।

मुझे कृष्ण की प्रतिज्ञा याद आ गई जो उन्होंने अर्जुन और दुर्योधन के समक्ष ली थी कि वे युद्ध में अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाएँगे। तो फिर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा क्यों तोड़ी? मैं अभी इस बारे में सोच ही रहा था कि तभी अर्जुन रथ से कूदा और उसने कृष्ण के पैर पकड़ लिए। वह कातर स्वर में बोला, “केशव! कृपया शांत हो जाइए। आपने शस्त्र नहीं उठाने का प्रतिज्ञा की है। इसे मत तोड़िए प्रभु! मेरे लिए अपनी छवि को कलंकित मत करिए, माधव!”

“नहीं!” श्रीकृष्ण का क्रोध थमने का नाम नहीं ले रहा था, “अधर्म के विरुद्ध इस युद्ध में मुझे अपने वचन या अपनी छवि की कोई चिंता नहीं है। गंगापुत्र भीष्म को अगर नहीं रोका गया तो तुम्हारा विनाश निश्चित है, पार्थ! तुम मुझे स्वयं से भी अधिक प्रिय हो और तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए मैं ऐसी एक सहस्र प्रतिज्ञाएँ तोड़ सकता हूँ!”

“केशव!” अर्जुन ने कहा, “मैं आपको वचन देता हूँ कि अपने पुरुषार्थ का भरपूर उपयोग करूँगा और पितामह को रोकने के लिए गांडीव में नई ऊर्जा का संचार करूँगा। आपको मेरी सौगंध है, आप रुक जाइए!” भक्त ने अपने प्रेम के कच्चे सूत से भगवान को बाँध लिया था। कृष्ण रुक गए और दोबारा रथ पर जा बैठे।

मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया था। इस घटना ने मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। मैं युद्ध के बीच खड़ा उस रणभूमि में दो विकट व्यक्तित्वों की निजी प्रतिज्ञाओं की तुलना कर रहा था। एक ओर पितामह भीष्म थे, जो अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा हेतु, धर्म को दाँव पर लगाकर दुर्योधन की ओर से अधर्म के पक्ष में युद्ध कर रहे थे। दूसरी ओर श्रीकृष्ण थे, जिनके लिए धर्म के सामने उनकी निर्जीव प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं था। भीष्म के लिए जहाँ उनकी

प्रतिज्ञा ही सर्वोपरि थी, वहीं कृष्ण ने धर्म की अक्षुण्णता तथा अपने भक्त की रक्षा के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने में पल-भर का भी विलंब नहीं किया!

कृष्ण जानते थे कि पांडवों की स्थिति को सँभालने के लिए भीष्म को मारना अनिवार्य था। उन्होंने सूर्यास्त के बाद, शिविर में बैठकर अगले दिन की रणनीति पर चर्चा करते हुए अर्जुन से कहा, “शिखंडी को युद्ध में उतारने का समय आ गया है!”

वह युद्ध का दसवाँ दिन था और उस दिन का सूर्य कौरव पक्ष के लिए बड़े अनिष्ट की आशंका लेकर उदय हुआ था। अर्जुन के रथ के आगे एक रथ चल रहा था। इस रथ पर शिखंडी सवार था। मैंने उस दिन अर्जुन को पहली बार रण में छिपकर आते देखा। युद्धभूमि में आते ही शिखंडी और अर्जुन ने भीष्म की ओर रुख कर लिया। भीष्म ने शिखंडी को देखा तो वे तत्काल भाँप गए कि वह उनके युद्ध का अंतिम दिन था। वे जान-बूझकर अपना मुँह दूसरी दिशा में घुमाकर युद्ध करने लगे तथापि, उनका ध्यान शिखंडी पर केंद्रित था। उन्हें पता था कि शिखंडी कहीं न कहीं से घूमकर उनके समक्ष आ ही जाएगा। और यही हुआ! कुछ ही देर में शिखंडी भीष्म के सामने आ पहुँचा।

“शिखंडी!” सहसा उसे कान में कृष्ण की आवाज़ आई। “तुम्हारे प्रतिशोध का यही क्षण है! वार करो!” शिखंडी ने पीछे मुड़कर देखा। परंतु कृष्ण तो पीछे वाले रथ में बैठे अर्जुन का सारथ्य कर रहे थे, तो फिर यह आवाज़ किसकी थी? “शिखंडी, क्या सोच रहे हो? भीष्म पर बाण चलाओ!” उसके कान में फिर से श्रीकृष्ण का स्वर गूँजा। शिखंडी भाँप गया कि यह कृष्ण का ही गुप्त संदेश था। उसने तुरंत अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और भीष्म पर चला दिया। उसका बाण भीष्म की बाँह के ऊपरी हिस्से पर लगा था। सामने शिखंडी को देखकर भीष्म धीमे से मुस्कराए। यह विचित्र बात थी कि कुछ पल पूर्व शत्रुओं पर वज्रपात करने वाले भीष्म, शिखंडी के प्रहार के बावजूद शांत खड़े थे। शिखंडी ने भीष्म पर एक के बाद एक अनेक तीर चलाए और उन्हें आंशिक रूप से घायल कर दिया। उन्होंने शिखंडी पर बाण न चलाने की प्रतिज्ञा की थी और इसी बात का लाभ लेने के लिए श्रीकृष्ण, शिखंडी को सामने लेकर आए थे। उस महासमर में एक बार नहीं, अपितु अनेक बार श्रीकृष्ण की चातुर्यपूर्ण युक्तियाँ देखने को मिलती रहीं। हालांकि वे प्रत्यक्ष रूप से युद्ध नहीं लड़ ले रहे थे, तथापि पाँच पांडव, कृष्ण की दिव्यता की छत्र-छाया में कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के विरुद्ध सहजता से युद्ध लड़ रहे थे।

शिखंडी ने सामने आकर भीष्म को थोड़ा आहत तो कर दिया लेकिन उसके बाणों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इच्छा-मृत्यु वरधारी भीष्म का वध कर पाते! वह सामर्थ्य तो केवल अर्जुन के बाणों में था। कृष्ण ने अर्जुन को भीष्म पर वार करने का इशारा किया। अर्जुन ने निशाना साधा और बाण चला दिया। ऐसा तो कोई कवच ही नहीं था, जिसमें अर्जुन के बाण को रोक पाने का सामर्थ्य था।

खच्च!

अर्जुन के बाण ने अपना लक्ष्य बेध दिया था। वह तीर पितामह की छाती के पार हो गया। वह लड़खड़ाए किंतु गिरे नहीं। अर्जुन को सामने देख हस्तिनापुर के प्रति उनकी कर्तव्यनिष्ठा सजग हो गई किंतु तब तक, देर हो चुकी थी। वे जितनी देर में सँभलकर अपना धनुष उठा पाते, अर्जुन दर्जनों बाण चला चुका था। एक भी तीर लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ। आख़िर अर्जुन संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर था! अगले ही पल भीष्म का वृद्ध किंतु बलिष्ठ शरीर अर्जुन के तीरों से छलनी हो गया। सभी तीर इतनी सटीक और संतुलित शक्ति से चलाए गए थे कि वे भीष्म के शरीर के अग्रभाग से पार होकर पृष्ठ भाग से बाहर निकले हुए दिखाई दे रहे थे और बाहर निकले हुए हिस्सों की लंबाई भी बिलकुल एक समान थी जो अर्जुन की धनुर्विद्या का एक और अप्रतिम उदाहरण था।

भीष्म अत्यंत पीड़ादायक स्वर के साथ धरती पर गिर पड़े। उनका पूरा शरीर नीचे गिरते समय अर्जुन के बाणों पर ही टिक गया। अर्जुन, अपने जिन पितामह की गोद में खेलकर बड़ा हुआ था, उन्हीं के शरीर को निर्ममता से बींधने के बाद अर्जुन के हाथ से धनुष छूट गया और वह नीचे बैठकर फूट-फूटकर रोने लगा। गंगापुत्र भीष्म के गिर जाने से रणभूमि में सन्नाटा छा गया। पल-भर के लिए सभी योद्धा लड़ना छोड़कर शर-शय्या पर लेटे उस महान योद्धा को देखने लगे। शिखंडी और कृष्ण एक-दूसरे को देखकर मुस्करा रहे थे।

युद्ध की यह विशेषता है कि वह विनाश का अग्रदूत होने के बावजूद, एक ही समय पर प्रसन्नता और दुख के भाव उत्पन्न कर सकता है। इसमें भाग लेने वाले योद्धा अपने सगे-संबंधियों तथा बंधु-बांधवों के रक्त से रंजित भूमि पर उन्हीं के शवों को निर्ममता से रौंदते हुए लोलक की भांति विजय और पराजय के बीच झूलते रहते हैं।

जब दिव्य-दृष्टि प्राप्त संजय ने भीष्म के भूमि पर गिर जाने की बात धृतराष्ट्र को बताई तो वह भयभीत हो गया। भीष्म की मृत्यु या कहें, उनकी यह निष्क्रियता हस्तिनापुर के राजसिंहासन के लिए अशुभ लक्षण थी। युद्ध में जीत का पलड़ा, किसी भी क्षण पांडवों के पक्ष में झुक सकता था। धृतराष्ट्र ने सहसा दोनों हाथों से अपना मुकुट थाम लिया। यह भीषण महायुद्ध नेत्रहीन धृतराष्ट्र की दिशाहीन महत्त्वाकांक्षा तथा उसके बुद्धिहीन सिर पर रखे मुकुट की रक्षा के लिए ही तो लड़ा जा रहा था!

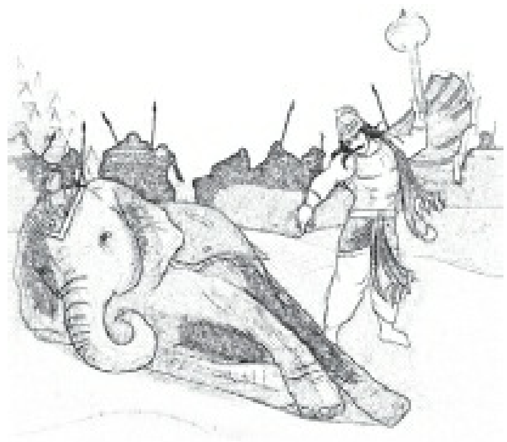

22

पिछले कई दिनों से अर्जुन के रक्त का प्यासा कर्ण, कौरव शिविर में बैठा बाणों की नोक को छूकर और अपने धनुष की डोर को सहलाकर अपनी व्यग्रता को दबाए, व्याकुलता से युद्ध में अपनी भूमिका निभाने की प्रतीक्षा कर रहा था। भीष्म की रखी शर्त की अनुसार, उनके गिर जाने के बाद अब कर्ण के लिए कुरुक्षेत्र की रणभूमि का द्वार खुल चुका था। वह युद्ध में उतरते ही शत्रुओं पर भारी विपदा की तरह टूट पड़ा। इतने दिनों तक 'सूतपुत्र!' सुन-सुनकर उसके कान पक चुके थे। निरंतर अपमान के घृत ने उसके मन के भीतर सुलगते अंगारों को और भड़का दिया था। कर्ण के रण में आने से मानो वहाँ विनाश की आँधी चल पड़ी। पांडवों की सेना तितर-बितर होकर भागने लगी। भीष्म के हट जाने से युद्धभूमि में जो रिक्तता उत्पन्न हो गई थी, उसे कर्ण ने अपने पराक्रम से सहज ही भर दिया।

द्रोणाचार्य और कर्ण के रण में उतरने के बाद युद्ध का पलड़ा फिर से कौरवों के पक्ष में झुकने लगा था। पांडवों के लिए यह निश्चित ही चिंता की बात थी। उन्हें इस समय किसी ऐसे वीर योद्धा की आवश्यकता थी, जो कर्ण के साहस का प्रत्युत्तर बन पाता। अर्जुन अपनी ओर से पूरा प्रयास कर रहा था लेकिन कर्ण और द्रोण की संयुक्त शक्ति के काले मेघ, अर्जुन के

पराक्रम की द्युति को ढँक तो नहीं सके, तथापि कुछ पल के लिए उसे फीका अवश्य कर दिया। परंतु अर्जुन तो फिर अर्जुन था! शीघ्र ही वह अपने रौद्र रूप में लौट आया। उसके द्वारा की जा रही भीषण बाण-वर्षा ने कौरव सेना के बड़े-बड़े रणबाँकुरों को धूल चटा दी।

सहसा मैंने देखा कि कर्ण ने एक मंत्रोच्चारण किया और अगले ही पल उसके हाथ में इंद्र द्वारा दी गई अचूक 'शक्ति' आ गई। उसे देखते ही कृष्ण ने तेजी से अर्जुन का रथ घुमाया और उसे कर्ण से बहुत दूर दक्षिण दिशा में ले गए। अर्जुन को श्रीकृष्ण के इस तरह अचानक डरकर रथ भगा ले जाने का कारण समझ में नहीं आया, किंतु उसे कृष्ण के विवेक और चातुर्य पर लेश-मात्र भी संदेह नहीं था। उन दोनों के बीच भक्त-भगवान का रिश्ता कम और मैत्री का संबंध अधिक प्रगाढ़ था और इसका एकमात्र आधार था, अर्जुन का श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्ण समर्पण! तथापि, अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछ ही लिया, "केशव! मैं इस तरह रण से भाग निकलने का आशय नहीं समझा।"

"शक्ति!" कृष्ण ने एक शब्द में उत्तर देते हुए कहा, "कर्ण ने जो अचूक शक्ति इंद्र से प्राप्त की थी, वह अब उसका प्रयोग करने का निर्णय कर चुका है और अर्जुन, उसका वह लक्ष्य तुम हो! वास्तव में, कर्ण ने तुम्हारा वध करने के उद्देश्य से ही इंद्र से वह शक्ति माँगी है। इसी कारण, मैं तुम्हें वहाँ से दूर ले आया हूँ क्योंकि इंद्र की शक्ति की काट किसी के पास नहीं है। वह जिसे स्पर्श करेगी, उसकी मृत्यु निश्चित है!"

"अब क्या होगा कृष्ण? क्या मेरे त्राण का कोई उपाय है या फिर...?"

श्रीकृष्ण कुछ पल सोचते रहे। उन्हें कर्ण के हाथों इतनी सहजता से अपने सखा अर्जुन का वध होने देना स्वीकार्य नहीं था।

"पार्थ!" कृष्ण ने अर्जुन के कंधे पर हाथ रखकर, उसे दिलासा देते हुए कहा, "तुम निश्चिंत रहो। यदि मेरे रहते हुए तुम्हारा अनिष्ट हो गया, तो मेरे होने का अर्थ ही क्या है? हमें कर्ण की शक्ति के लिए शीघ्र ही कोई उचित लक्ष्य खोजना होगा।" श्रीकृष्ण के उत्तर से निश्चिंत होकर अर्जुन ने भावुक दृष्टि से वासुदेव की ओर देखा और फिर अपना गांडीव उठाकर युद्ध में रत हो गया।

कृष्ण को अब अर्जुन की रक्षा के लिए किसी ऐसे योद्धा की तलाश थी जो कर्ण की शक्ति के विरुद्ध अर्जुन का कवच बन सकता था। संध्या-काल के समय कृष्ण ने भीम से पूछा, "भीम, तुम इतना महत्त्वपूर्ण और महान युद्ध लड़ रहे हो, किंतु मैंने अभी तक तुम्हारे पुत्र, घटोत्कच को नहीं देखा। क्या उसे इस समय अपने पिता के साथ नहीं होना चाहिए था?"

घटोत्कच का उल्लेख हुआ तो मुझे याद आया कि मैंने अब तक आपको घटोत्कच के विषय कुछ नहीं बताया। पांडव, जिस समय वनवास काट रहे थे, उन्हीं दिनों वन में भीम की मुठभेड़ हिडिंब नाम के राक्षस से हुई थी और भीम ने उसका वध कर दिया था। इसके बाद, भीम ने हिडिंब की बहन, हिडिंबा से विवाह किया और कुछ समय बाद हिडिंबा ने भीम के

पुत्र को जन्म दिया जिसमें राक्षसों एवं मनुष्यों के गुणों का अद्‌भुत समावेश था। वह आकार और शक्ति में राक्षसों के समान अतिविशाल और बलशाली था, किंतु उसके व्यवहार में सभी प्रकार के मानवीय गुण भी विद्यमान थे। हिडिंबा ने उसका नाम घटोत्कच रखा था। घटोत्कच ने अपना अधिकांश जीवन वन में अपनी माँ हिडिंबा के साथ अपने समुदाय के बीच रहकर ही बिताया था।

कृष्ण का संकेत पाते ही, भीम ने हिडिंबा के पास अपना एक दूत भेजा। भीम का संदेश मिलते ही, हिडिंबा ने घटोत्कच को तुरंत अपने पिता की सहायता हेतु कुरुक्षेत्र भेज दिया। अगले दिन सूर्यास्त के कुछ ही देर बाद, रणभूमि में घटोत्कच का आगमन हो गया। मनुष्यों के बीच हो रहे उस युद्ध में घटोत्कच दैत्य को पांडवों के पक्ष में खड़ा देखकर कौरव सेना में हाहाकार मच गया। भीम के अतिरिक्त, पांडवों अथवा कौरवों में से किसी ने घटोत्कच को पहले कभी नहीं देखा था। उसकी काया इतना ऊँची थी कि उसके समीप खड़े होकर, उसके वास्तविक आकार का अनुमान लगा पाना असंभव था।

कौरव सेना ने घटोत्कच पर बाणों की वर्षा कर दी। उनके तीर घटोत्कच के तन से टकराते अवश्य थे, किंतु घास के तिनकों की तरह टूटकर गिर जाते थे। यहाँ तक कि उस पर, द्रोण और कृपाचार्य द्वारा चलाए गए बाणों का भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसके अट्टहास से कौरव योद्धाओं के कान फट रहे थे और उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि वे उस भीमकाय राक्षस से बचकर किस तरफ़ भागें! वे किसी भी दिशा में भागते, तो घटोत्कच लंबे डग भरकर उन्हें तुरंत ही पकड़कर मार डालता था। वह एक ही बार में शत्रु के दर्जनों सैनिकों को अपने विशाल हाथों से मसलकर मार देता था। उसके पैरों के नीचे सैकड़ों सैनिक अपने प्राण गँवा बैठे। घटोत्कच के आगमन के कुछ ही घंटों के भीतर, कौरव सेना का मनोबल पस्त होने लगा। घटोत्कच की विनाश-लीला को देखकर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, आदि समस्त कौरव पक्ष के योद्धाओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि घटोत्कच को तुरंत नहीं रोका गया तो दस दिन से चल रहे उस भीषण युद्ध को वह अकेला एक ही दिन में समाप्त कर देगा।

कुछ क्षण सोचने के बाद द्रोण ने कर्ण से कहा, “कर्ण! अब इस महाविपदा को केवल तुम रोक सकते हो!”

“मैं?” कर्ण ने आश्चर्य से पूछा, “मैं तो प्रयास कर चुका हूँ आचार्य, परंतु घटोत्कच पर मेरे शक्तिशाली बाणों का भी कोई प्रभाव नहीं हो रहा है।”

“कर्ण, मैं तुम्हारे साधारण बाणों की बात नहीं कर रहा। उस तरह के बाण तो हमारे पास भी हैं। तुम्हारे पास एक ऐसा दिव्यास्त्र है, जो हमें घटोत्कच से बचा सकता है।”

“कौन-सा दिव्यास्त्र आचार्य?” कर्ण ने अचंभित होकर पूछा।

“इंद्र द्वारा दी गई अमोघ शक्ति ही अब हमें घटोत्कच से बचा सकती है!” द्रोण ने स्पष्ट किया।

“आचार्य, वह शक्ति मैंने अर्जुन को मारने के लिए बचा रखी है!” कर्ण स्पष्ट बात करने के लिए प्रसिद्ध था।

अर्जुन का नाम सुनते ही द्रोणाचार्य की मुद्रा बदल गई। घटोत्कच को मारना अनिवार्य था और उसके लिए शक्ति का प्रयोग भी आवश्यक था, किंतु द्रोण को ज्यों ही पता लगा कि कर्ण ने उस शक्ति को अर्जुन के वध के लिए बचा रखा है, उनका हृदय विचलित हो गया। उनका आग्रह, सहसा हठ में बदल गया।

“तुम्हारा ऐसा सोचना ग़लत है, कर्ण!” द्रोण ने कहा, “तुम जब जीवित बचोगे, तभी तो अर्जुन को मार पाओगे। मैं तुम्हारे एक हठ के लिए समस्त कौरव सेना के प्राणों को संकट में नहीं डाला जा सकता, इसलिए मैं कौरवों का सेनापति होने के नाते, तुम्हें घटोत्कच पर उस दिव्य शक्ति का प्रयोग करने का आदेश देता हूँ!” मैं द्रोण की यह बात सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। कौरव सेनापति के मन में पांडवों के लिए इतना स्नेह, हमारे लिए निश्चय ही घातक सिद्ध होने वाला था।

“आपकी जैसी आज्ञा, सेनापति!” कर्ण के शब्द विनीत थे, किंतु उसका स्वर अत्यंत कठोर था।

कर्ण ने धनुष उठाया और शिविर से बाहर निकल गया। कर्ण के जाने के बाद मैंने अपने पिता के चेहरे पर वही कुटिल मुस्कान देखी, जो उनके मुख पर एकलव्य से उसका अँगूठा माँगते समय देखी थी। मैं अर्जुन के प्रति अपने पिता के अटूट प्रेम का रहस्य कभी नहीं जान पाया, किंतु इतना कह सकता हूँ कि अर्जुन के प्रति उनके मोह की वेदी में एकलव्य और कर्ण जैसे विलक्षण धनुर्धरों की दक्षता अवश्य स्वाहा हो चुकी थी!

सहसा रणभूमि में भीषण किंतु दर्दनाक गर्जना हुई। कुछ पल के लिए युद्ध थम गया। ऐसा लगा मानो बहुत देर से विध्वंस मचा रहा तूफ़ान थम गया हो! हम निकट पहुँचे तो देखा कि घटोत्कच का निष्प्राण शरीर भूमि पर पड़ा था। कर्ण द्वारा चलाई गई शक्ति, घटोत्कच की छाती के पार हो गई थी और उसका गहरा लाल रक्त रणभूमि पर अविरल बह रहा था। उसकी विशाल काया के नीचे दोनों पक्षों के सैकड़ों सैनिक दबकर मर गए थे।

घटोत्कच की मृत्यु से पांडव सेना में शोक और चिंता की लहर दौड़ गई। तभी मेरी दृष्टि श्रीकृष्ण पर पड़ी और मैं यह देखकर हैरान रह गया कि उनके चेहरे पर अवसाद की जगह हर्ष के भाव थे जिससे यह स्पष्ट था कि कृष्ण को घटोत्कच के वध के दुख से अधिक, अर्जुन की रक्षा होने की ख़ुशी थी। मैंने जैसा कि पहले भी कहा था कि युद्ध में दोनों पक्ष, विजय एवं पराजय के मध्य लोलक की भांति झूलते रहते हैं। किसी एक की क्षति, दूसरे का लाभ बन जाती है। घटोत्कच की मृत्यु से पांडव पक्ष की मानो कमर टूट गई और कौरव पक्ष फिर से प्रबल हो उठा। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक बार फिर युद्ध की आँधी चलने लगी और रक्तपात का वही सिलसिला फिर आरंभ हो गया।

इस महायुद्ध को चलते लगभग बारह दिन बीत चुके थे। स्वभाव से अधीर दुर्योधन की

व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। वह बार-बार द्रोणाचार्य से पांडवों को पराजित करके युद्ध समाप्त करने पर बल देने लगा। उसके इस प्रकार के दुराग्रही और हठी व्यवहार से द्रोण चिढ़ गए। उन्होंने कहा, "तुम बच्चों की तरह हठ मत किया करो, दुर्योधन। मैं अपनी ओर से हर संभव प्रयास कर रहा हूँ। पांडवों को पराजित करना कोई हँसी-खेल नहीं है।"

"क्षमा करें गुरुदेव," दुर्योधन ने अपनी खीज छिपाते हुए कहा, "किंतु यदि जल्द ही पांडवों को समाप्त नहीं किया गया तो हमारी पराजय होने में अधिक समय नहीं लगेगा।"

"मैं जानता हूँ," द्रोणाचार्य ने कहा, "आज मैं एक चक्रव्यूह की रचना करने जा रहा हूँ। इसे अर्जुन की अतिरिक्त कोई नहीं भेद सकता। यदि तुम अर्जुन को किसी तरह चालाकी से यहाँ से दूर ले जा सको तो उसकी अनुपस्थिति में मेरा बनाया हुआ चक्रव्यूह पांडवों के लिए मृत्यु का द्वार बन जाएगा।"

"उत्तम, आचार्य!" दुर्योधन का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। "यह तो बहुत शानदार योजना है। मैं अभी संशप्तकों से कहता हूँ कि वे सब मिलकर अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारें और इस बहाने से उसे दक्षिण दिशा की ओर ले जाएँ। उसके चले जाने के बाद आप व्यूह-रचना आरंभ कर दीजिए।"

योजना के अनुसार, दुर्योधन के कहने पर संशप्तकों ने अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा, जिसे सुनकर अर्जुन को उनके साथ युद्ध के लिए जाना पड़ा। वे धीरे-धीरे अर्जुन को दक्षिण दिशा में रणभूमि से दूर ले गए, द्रोण ने उधर कुरुक्षेत्र में व्यूह-रचना आरंभ कर दी। इधर पांडवों के खेमे में द्रोण के बनाए चक्रव्यूह को देखकर खलबली मच गई। मेरे माथे पर जिस घटना के कारण कलंक का टीका लगा, उसका आरंभ भी द्रोण द्वारा रचित इसी चक्रव्यूह से हुआ था।

"अब क्या होगा?" व्यूह को देखकर, भीम ने चिंतित स्वर में युधिष्ठिर से पूछा, "आचार्य द्रोण के बनाए इस व्यूह को भेदना केवल अर्जुन को आता है और वह संशप्तकों से युद्ध करता हुआ यहाँ से बहुत दूर चला गया है। द्रोण का व्यूह हमारी सेना को निगलता हुआ तेज़ी से आगे बढ़ रहा है और अगर इसे तोड़ा नहीं गया तो अर्जुन के आने तक हम सब इसमें समाकर काल का ग्रास बन जाएँगे।"

"मैं भी इस बात से व्याकुल हूँ, भीम!" युधिष्ठिर ने कहा। "अर्जुन की अनुपस्थिति में, आख़िर इस व्यूह को कौन तोड़ेगा?"

"मैं तोड़ूँगा इस व्यूह को!" एक युवा स्वर कानों में गूँजा तो सभी ने मुड़कर देखा। यह अर्जुन के सत्रह वर्षीय पुत्र अभिमन्यु की आवाज़ थी।

"तुम!" भीम ने कहा, "वत्स अभिमन्यु, तुम इस चक्रव्यूह को कैसे तोड़ोगे? तुम्हारे पिता अर्जुन के अतिरिक्त कोई इसे भेदना नहीं जानता!"

"आप ठीक कह रहे हैं तातश्री," अभिमन्यु ने मुस्कराते हुए कहा, "परंतु जब मैं अपनी

माँ के गर्भ में था तो एक दिन पिताजी माँ को चक्रव्यूह-भेदन का तरीक़ा समझा रहे थे। मैंने वह तकनीक उसी समय अपनी माँ के गर्भ में ही सीख ली थी!”

“शाबाश पुत्र!” युधिष्ठिर ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, “अब हमें चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं!”

“किंतु एक समस्या है,” अभिमन्यु ने कुछ संकोच से कहा, “मैंने व्यूह के भीतर घुसना तो सीख लिया था, लेकिन जिस समय पिताजी चक्रव्यूह से बाहर निकलने की विधि माँ को बता रहे थे, उस बीच माँ को नींद आ गई और मैं बाहर निकलने की विधि सुन नहीं पाया।”

“ओह!” युधिष्ठिर के माथे पर चिंता की लकीरें फिर उभर आईं। “यह तो सचमुच चिंता की बात है। परंतु तुम घबराओ मत, अभिमन्यु! तुम जैसे ही चक्रव्यूह को भेदकर इसके भीतर घुसोगे, हम लोग भी तुम्हारे पीछे-पीछे अंदर आ जाएँगे और फिर तुम अकेले नहीं रहोगे। भीतर घुसने के बाद हम सब मिलकर आसानी से इस व्यूह को छिन्न-भिन्न कर देंगे।”

योजना के अनुसार, वीर अभिमन्यु द्रोण के बनाए चक्रव्यूह के सामने आ खड़ा हुआ और शेष पांडव एवं अन्य वीर योद्धा भी उसका साथ देने के लिए उसके पीछे-पीछे चल पड़े। कुछ ही देर में अभिमन्यु ने अपने पिता से सीखे कौशल की सहायता से व्यूह का द्वार तोड़ दिया और उसे भेदता हुआ भीतर प्रवेश कर गया। शेष चारों पांडव और अन्य योद्धा भी अभिमन्यु के पीछे व्यूह के अंदर घुसने ही वाले थे, कि उससे पहले ही सिंधुराज जयद्रथ ने फुर्ती से अपने सैनिकों की सहायता से व्यूह का मार्ग बंद कर दिया। चक्रव्यूह का मार्ग बंद होने से अभिमन्यु के अतिरिक्त कोई भी पांडव योद्धा चक्रव्यूह में प्रवेश नहीं कर सका। शत्रु द्वारा व्यूह भेदने के प्रयास को विफल करने हेतु मेरे साथ व्यूह के भीतर कर्ण, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बृहद्बल और कृतवर्मा भी खड़े थे। अब व्यूह के अंदर हम छह महारथियों के बीच सत्रह वर्ष का अभिमन्यु अकेला फँस गया था। इसके बाद जो कुछ हुआ, मैं आज भी उस दृश्य की कल्पना करता हूँ तो मेरा मन घृणा व ग्लानि से सिहर उठता है।

अभिमन्यु भीतर अकेला था, लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। वह अपने पिता अर्जुन की ही भांति अत्यंत पराक्रमी था और वह साहसपूर्वक अकेला लड़ता रहा। जिस तरह निर्जन वन में व्याध की टोली से घिरा मृग छौना तेज दौड़ने और कुलाँचे भरने के बाद भी कुछ ही देर में निढाल हो जाता है, उसी तरह छह-छह महायोद्धाओं से अकेले लड़ते-लड़ते वीर अभिमन्यु भी शीघ्र ही थक गया। उसका तन हमारे बाणों व तलवारों के प्रहार से छलनी हो गया था। वह लड़खड़ाता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा। उसके कंधों, बाँहों और मुँह से ख़ून बह रहा था। तीन बाण उसकी दाईं जाँघ को चीरकर पार निकल गए थे जिसके कारण उसके लिए उठना मुश्किल था। तभी कृतवर्मा ने पीछे से उसकी पीठ पर तलवार से वार किया। अभिमन्यु के शरीर से रक्त का फ़व्वारा फूट पड़ा।

“कायरों!” अभिमन्यु ने दर्द से चिल्लाते हुए कहा, “यदि साहस है तो सामने से वार करो।”

इतना सुनते ही कौरव सेना के हम छह महारथियों ने अकेले और निहत्थे अभिमन्यु को घेर लिया। इसके बाद, एक-एक करके सबने उस बालक पर तलवारों से प्रहार किया। उसका युवा तन क्षत-विक्षत हो गया था। उसके शरीर से रक्त बहुत तेज़ी से बह रहा था। अभिमन्यु के तन के नीचे की भूमि में, जो पिछले बारह दिनों में असंख्य योद्धाओं का रक्त-पान कर चुकी थी, अभिमन्यु का लहू सोखने की क्षमता नहीं बची थी। भयंकर पीड़ा से अभिमन्यु की आँखें बाहर निकल आईं थीं। वह अंतिम श्वास ले रहा था।

"तुम सब अपने आपको महारथी समझते हो?" अभिमन्यु बहुत मुश्किल से बोल पाया। "तुम लोग महारथी नहीं, अपितु महाकायर हो। संसार में जब-जब इस महासमर की गाथा का उल्लेख होगा, तुम छह लोगों के नाम पर मुझ निहत्थे और अकेले योद्धा को घेरकर कायरतापूर्ण ढंग से मारने का लगा कलंक कभी साफ़ नहीं होगा। कायरों! इस कुकृत्य के लिए इतिहास तुम्हें क्षमा नहीं करेगा!" इन्हीं अंतिम वचनों के साथ अभिमन्यु के प्राण निकल गए।

मैंने युद्ध में अनगिनत सैनिकों को मार गिराया था, किंतु उस युद्ध में अभिमन्यु के वध से अधिक निर्मम शायद ही कुछ हुआ हो। व्यूह के भीतर छह सशस्त्र योद्धाओं के हाथों निहत्थे अभिमन्यु की हत्या, निर्ममता की पराकाष्ठा के साथ-साथ कायरता की चरमसीमा भी थी। मरते समय अभिमन्यु ने जो कुछ कहा, मैं उसका समर्थन करता हूँ। इतिहास साक्षी है कि संसार ने हम छह योद्धाओं को इस दुष्कर्म के लिए कभी क्षमा नहीं किया!

इस बीच, अर्जुन संशप्तकों को पराजित करके जब सायंकाल युद्ध भूमि में लौटा तो उसे अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार मिला।

"अभिमन्यु के चक्रव्यूह तोड़ने के बावजूद आप लोग उसकी सहायता के लिए भीतर क्यों नहीं जा पाए?" अर्जुन ने कुछ देर बाद युधिष्ठिर से पूछा।

"प्रिय अर्जुन!" युधिष्ठिर ने कहा, "अभिमन्यु ने जब व्यूह का द्वार तोड़ दिया तो उसके पीछे हम लोग भी लगभग प्रवेश कर चुके थे, किंतु तभी सिंधुराज जयद्रथ ने हमारा मार्ग रोक लिया और उसके साथ उसके बहुत-से सैनिक थे। उन्होंने व्यूह का प्रवेश-मार्ग पूरी तरह रोक दिया। इसी कारण, हम लोग भीतर नहीं जा सके और हमारा प्रिय अभिमन्यु, दुष्ट जयद्रथ की कुटिल चाल का शिकार हो गया। यदि जयद्रथ ने हमारा मार्ग न रोका होता तो आज अभिमन्यु जीवित होता!" इतना कहते ही युधिष्ठिर की आँखें शोक से नम हो गईं।

अर्जुन ने जब अपने वीर पुत्र की कायरतापूर्ण ढंग से की गई हत्या की बात सुनी तो क्रोध से उसका तन आँधी में सूखे पत्ते की तरह काँपने लगा। उसके नथुने फूल गए और बाँहें फड़कने लगीं। सहसा अर्जुन के अश्रु-पूरित नेत्रों में क्रोध की लालिमा उभर आई।

"जयद्रथ!" वह शत्रु के शिविर की दिशा में देखते हुए चिल्लाया, "मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैंने कल सूर्यास्त होने से पूर्व तेरा का वध करके अपने अभिमन्यु की हत्या का प्रतिशोध नहीं लिया तो मैं आत्म-दाह कर लूँगा!"

अर्जुन की इस भीषण प्रतिज्ञा से जहाँ एक ओर पांडवों के खेमे में हलचल मच गई, वहीं दूसरी ओर कौरवों के लिए इससे अच्छा समाचार और क्या हो सकता था! पांडवों में सर्वाधिक वीर और ख़तरनाक अर्जुन था और उसे समाप्त करने का यह स्वर्णिम अवसर था। उन्हें केवल अगले दिन, सूर्यास्त होने तक जयद्रथ को अर्जुन की दृष्टि से छिपाकर रखना था!

पांडव, जिस समय, अर्जुन की प्रतिज्ञा पर चिंता और पूर्वाभासी शोक व्यक्त कर रहे थे, उस बीच कृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन के प्राणों की रक्षा का उपाय सोच रहे थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि दुर्योधन किसी भी स्थिति में जयद्रथ को अर्जुन के सामने नहीं आने देगा। अगले दिन सूर्योदय हुआ तो कौरव सेना में विलक्षण उत्साह था। उन्हें पता था कि सूर्यास्त होने के साथ, अर्जुन का अंत हो जाएगा और उसी के साथ पांडवों की पराजय भी लगभग तय हो जाएगी।

अर्जुन अपनी समस्त ऊर्जा के साथ रणभूमि में उतरा और आते ही जयद्रथ को खोजने लगा। वह इतना उत्तेजित और परेशान था कि श्रीकृष्ण से कहकर अपना रथ इधर-उधर, यहाँ-वहाँ दौड़ा रहा था। उसकी दृष्टि रणभूमि को अत्यंत ध्यान से छान रही थी। हालांकि कृष्ण जानते थे कि दुर्योधन इतनी बड़ी भूल कदापि नहीं करेगा कि वह जयद्रथ को रण में जाने देने की अनुमति दे देगा। श्रीकृष्ण ने अनेक बार अर्जुन को यह समझाने का प्रयास भी किया कि वह जयद्रथ को खोजने में अपनी ऊर्जा व्यय न करे और जितना भी समय उसके पास शेष है, उसमें अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए अधिक से अधिक शत्रुओं का संहार करने का प्रयास करे। परंतु आवेश और क्रोध से अर्जुन हतबुद्धि हो गया। वह उन्मत्त होकर इधर-उधर दौड़ रहा था। अर्जुन का रथ रणभूमि में इतनी तेज़ गति से घूम रहा था कि रथ के निकल जाने के बाद सिर्फ़ रथ के पहियों से उड़ी धूल दिखाई देती थी!

इसी भाग-दौड़ में पूरा दिन निकल गया किंतु जयद्रथ का कहीं पता न लगा। अर्जुन अपने लक्ष्य को पाने के लिए इतना व्यग्र हो गया था कि उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि सूर्यास्त होने में कुछ ही समय शेष था। दूसरी ओर, कृष्ण के हाथ रथ चला रहे थे किंतु उनकी दृष्टि तेज़ी से ढलते सूर्य पर टिकी हुई थी। दिवस का अवसान निकट था। सूर्य की मंद होती प्रत्येक किरण के साथ अर्जुन का अंत निकट आता था।

सहसा कुछ हुआ जिसने सर्वत्र हलचल पैदा कर दी। अचानक चारों ओर अँधकार छाने लगा, नभ में उड़ रहे पक्षी अपने-अपने नीड़ को लौटने लगे और आकाश संध्याकाल की लालिमा से रक्तिम हो उठा। सामान्य ढंग से देखने पर यही लगा मानो सूर्यास्त हो गया था। सहसा युद्धभूमि में शांति छा गई और नियमानुसार, सूर्यास्त होने पर युद्ध थम गया। मैंने देखा कि अर्जुन का रथ दुर्योधन के शिविर के ठीक सामने खड़ा था।

इसी बीच, जयद्रथ ख़ुशी से उछलता हुआ दुर्योधन के शिविर से बाहर आया और हँसते हुए बोला, "अर्जुन! देखो, सूर्यास्त हो गया और तुम मुझे मार पाने में असफल रहे। मुझे दुख है कि तुम्हारा यह सखा कृष्ण भी मुझे खोज पाने में असफल रहा। अब रथ से नीचे उतर

आओ और आत्म-दाह करके अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो!”

“जयद्रथ!” श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, “इतना अधीर होना अच्छी बात नहीं है। तुम्हें अत्यधिक उत्तेजना के कारण भ्रम हो रहा है। यह अँधेरा तो सहसा घने बादलों के कारण हो गया था। वह देखो, सूर्य अस्त होने में अभी कुछ पल बाक़ी हैं!”

श्रीकृष्ण की बात सुनकर जयद्रथ और अर्जुन समेत सब लोग आकाश की ओर देखने लगे। यह सचमुच अद्‌भुत दृश्य था। आकाश में छाए बादल पूरी तरह छँट चुके थे और सूर्य अपनी पूर्ण ओजस्विता के साथ पश्चिम दिशा में डूबने की तैयारी कर रहा था।

“अर्जुन, तुम्हें अब किस बात की प्रतीक्षा है?” कृष्ण ने अर्जुन से कहा। “तुम्हारा लक्ष्य तुम्हारे सामने है। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो और अभिमन्यु की हत्या का प्रतिशोध ले लो!” अभी श्रीकृष्ण का वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था, कि मैंने देखा अर्जुन अपने विशाल गांडीव धनुष पर बाण साधे तैयार खड़ा था। कृष्ण ने अर्जुन को फिर टोका, “एक बात का ध्यान रखना। जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र ने यह भविष्यवाणी की हुई है कि जो व्यक्ति उसके पुत्र जयद्रथ का सिर काटकर पृथ्वी पर गिराएगा, उसके अपने सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे! इसलिए तुम अपने बाण को इस तरह चलाओ कि जयद्रथ का सिर कटकर उसी के पिता की गोद में गिर जाए। उसके पिता वृद्धक्षत्र, इस समय संध्यावंदन में लीन हैं। जल्दी करो, पार्थ! सूर्यास्त होने को है।”

श्रीकृष्ण की बात सुनते ही अर्जुन ने धनुष की डोर खींची और फिर पूरी शक्ति से उसे छोड़ दिया। अर्जुन का बाण विद्युत गति से उड़ा और अगले ही पल जयद्रथ का सिर, उसके धड़ से अलग हो गया। अर्जुन ने अपना बाण, कृष्ण की चेतावनी को ध्यान में रखते हुए चलाया था। इस कारण, जयद्रथ का कटा सिर, हवा में उड़ता हुआ उसके पिता वृद्धक्षत्र की गोद में जाकर गिरा। अपनी गोद में अपने पुत्र का कटा सिर देखकर वृद्धक्षत्र उठ खड़े हुए और इससे जयद्रथ का सिर उनकी गोद से लुढ़ककर धरती पर गिर गया। सिर के नीचे गिरते ही, अपनी ही भविष्यवाणी के चलते, वृद्धक्षत्र के सिर के सौ टुकड़े हो गए।

श्रीकृष्ण जानते थे कि युद्ध के नियमों से चलते हुए तथा दैवी माया का उपयोग किए बिना, अर्जुन के प्राणों की रक्षा करना संभव नहीं था। वह महायुद्ध, जो पांडवों द्वारा धर्म की रक्षा हेतु आरंभ हुआ था, अब धीरे-धीरे छल-कपट के मार्ग से विजय की ओर अग्रसर हो रहा था!

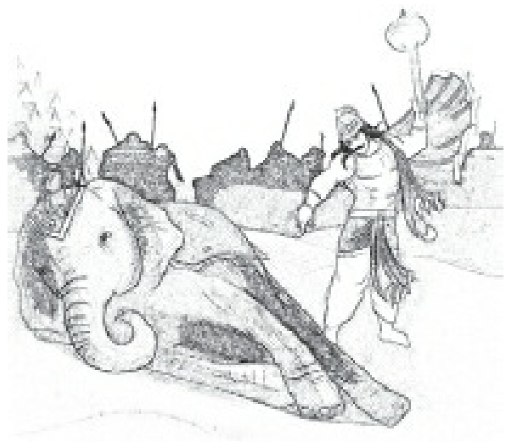

23

रणभूमि में जैसे-जैसे मरने वालों की संख्या बढ़ती जा रही थी, युद्ध अधिक नृशंस होता जा रहा था। जयद्रथ की छलपूर्वक मृत्यु से कौरव पक्ष में हाहाकार मच गया। दुर्योधन, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य में बात-बात पर विवाद होने लगे। उन्हें शायद होने वाली हार का अंदेशा होने लगा था और इसीलिए वे एक-दूसरे पर खीज रहे थे।

“गुरुवर!” दुर्योधन ने रोष भरे स्वर में द्रोणाचार्य से कहा, “ऐसा जान पड़ता है कि कौरवों के पक्ष में युद्ध लड़ते हुए भी आपका मन, अपने प्रिय शिष्य अर्जुन में ही रमा हुआ है! वह एक के बाद एक हमारे योद्धाओं को मार रहा है और इतने सारे दिव्यास्त्र होने के बाद भी आप शांति से सबकुछ देख रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि हम आपके ही कारण यह युद्ध हार जाएँ!”

दुर्योधन की बात में सच्चाई थी और इसीलिए, वह बात मेरे पिता को चुभ गई। यह सच था कि धृतराष्ट्र की राजसी कृपा का पात्र होने के बावजूद द्रोण की आसक्ति पांडवों, विशेषकर अर्जुन के प्रति, इतनी अधिक थी कि वे सामर्थ्यवान होते हुए भी पांडवों का अनिष्ट नहीं कर पा रहे थे। परंतु दुर्योधन के स्वर में कटुता को देखते हुए द्रोण के लिए अब यह

निर्णय लेना आवश्यक हो गया कि वह पांडवों के प्रति आसक्ति और कौरवों के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा में से किसे चुनते हैं।

जीवन के अंतिम क्षणों में द्रोणाचार्य जैसे विश्व-विख्यात गुरु को अपने माथे पर कर्तव्य की अवहेलना का कलंक लगवाना स्वीकार नहीं था। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाले और दुर्योधन को उसी के तीखे स्वर में उत्तर दिया, "दुर्योधन, तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। विजय पाने की लालसा में तुम्हें उचित-अनुचित का भी भान नहीं रहा। मैं तुम्हारी ओर से युद्ध लड़ रहा हूँ और पूरी निष्ठा से लड़ रहा हूँ, फिर भी यदि तुम्हें मेरी निष्ठा पर संदेह है तो मैं यह शपथ लेता हूँ कि आज ऐसा भीषण युद्ध करूँगा कि शत्रु-पक्ष के दिल दहल जाएँगे। परंतु यह एक बात अवश्य सुन लो कि तुम्हारा हठ ही इतने निरपराध सैनिकों और योद्धाओं की मृत्यु का कारण बना है और यदि इस युद्ध में हमारी पराजय हुई तो उसके उत्तरदायी भी तुम होओगे।" मैंने पहली बार द्रोण को इतनी कठोरता से दुर्योधन को फटकारते सुना था। पता नहीं क्यों, किंतु मुझे अपने पिता पर गर्व महसूस हो रहा था।

द्रोणाचार्य का मन दुर्योधन के आरोप से दुखी था। वे तत्काल अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर शिविर से बाहर निकल गए। कुशल योद्धा की अपेक्षा आहत योद्धा अधिक ख़तरनाक होता है! द्रोण आहत थे और इसलिए वे अधिक ख़तरनाक हो गए। उन्होंने समरभूमि में जाकर सचमुच भयंकर युद्ध आरंभ कर दिया। द्रोणाचार्य ने अपने अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध-कौशल से शीघ्र ही युद्ध का पलड़ा फिर से कौरव-पक्ष की ओर झुका दिया। उनका रथ समरभूमि में विद्युत से भी तेज़ गति से घूम रहा था और वे जिस भी दिशा में मुड़ जाते थे, वहाँ की धरती शत्रुओं के शवों से पट जाती थी। पांडवों के लिए द्रोण को रोकना आवश्यक था। परंतु पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर के गुरु को रण में रोकना या पराजित करना कोई हँसी-खेल नहीं था!

अर्जुन ने अपने गुरु का ऐसा वीभत्स और रौद्र रूप पहले नहीं देखा था। उसे समझ नहीं आया कि द्रोण की बाण-वर्षा और उनके दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को रोकने के लिए वह क्या करे! अर्जुन को पहली बार युद्ध करते समय भय महसूस हो रहा था। श्रीकृष्ण ने तत्काल अर्जुन की शंका और उसके भय को भाँप लिया।

कृष्ण ने रथ रोककर अर्जुन से कहा, "अर्जुन! तुम यह भली-भांति जानते हो कि द्रोणाचार्य धनुर्धारियों में सर्वश्रेष्ठ हैं और जब तक इन्होंने अपने हाथ में धनुष पकड़ा हुआ है, उन्हें देवराज इंद्र भी पराजित नहीं कर सकते। यदि तुम द्रोणाचार्य को रोकना चाहते हो तो कोई ऐसा उपाय करो कि वे अपना धनुष नीचे रख दें। वही क्षण होगा जब तुम द्रोण का वध कर सकोगे!"

"माधव!" अर्जुन ने आश्चर्य से कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं? इस समय रणभूमि में आचार्य द्रोण के अतिरिक्त कोई अन्य योद्धा ही नहीं है। मुझे तो सब तरफ़ वही दिखाई दे रहे हैं। वह पूर्व दिशा में हज़ारों सैनिकों को मारकर अगले ही क्षण पश्चिम दिशा में पहुँच जाते हैं और फिर वहाँ से किसी अन्य दिशा में! मैंने ऐसी फुर्ती किसी योद्धा में नहीं देखी। मुझे तो

ऐसा लग रहा है कि वे हम सबको मारकर आज ही इस युद्ध को समाप्त कर देंगे, और आप कह रहे हैं कि मैं इनका धनुष नीचे रखवाने का उपाय सोचूँ?"

अर्जुन को इतना आक्रांत देखकर कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "इस तरह हताश न हो, पार्थ! तुम्हारे ऊपर इस युद्ध को जीतने का दायित्व है। कोई समस्या इतनी बड़ी नहीं होती जिसका समाधान न हो सके। याद करो अर्जुन, जिस क्षण तुम्हें अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार मिला था, उस समय कैसे यह विशाल गांडीव, जिसकी केवल टंकार से स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं और युद्ध में बड़े-बड़े योद्धाओं को पसीना आ जाता है, तुम्हारे बलिष्ठ कंधों से सरककर नीचे आ गिरा था। याद है, अर्जुन?"

"हाँ याद है, कृष्ण!" अर्जुन ने अभिमन्यु के वध के दर्दनाक पलों को याद करते हुए कहा, "मैं उन क्षणों को कैसे भूल सकता हूँ? अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर किस पिता के कंधे से उसका धनुष नहीं छूट जाएगा?"

"मैं तुम्हें यही समझाने का प्रयास कर रहा हूँ पार्थ कि द्रोणाचार्य के हाथ से उनका धनुष नीचे रखवाने का अब केवल यही एक मार्ग है कि उन्हें अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनाया जाए!" श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा।

"अश्वत्थामा की मृत्यु!" अर्जुन का मुँह खुला रहा गया। "परंतु केशव, अश्वत्थामा तो जीवित है! वह पूर्व दिशा में नकुल-सहदेव के साथ घमासान युद्ध लड़ रहा है। आचार्य द्रोण से इतना बड़ा झूठ कौन बोलेगा? यदि एक क्षण को मान भी लिया जाए कि उनसे किसी ने यह बात कह दी तो भी आचार्य इस बात पर इतनी सरलता से न तो विश्वास करेंगे और न ही अपना धनुष छोड़ेंगे।"

"तुम ठीक कहते हो, अर्जुन!" कृष्ण ने अपनी सौम्य मुस्कान को बनाए रखा। "द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा इस समय पूर्व दिशा में युद्ध कर रहा है, किंतु यह बात द्रोण नहीं जानते। और फिर, मैंने तुमसे द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा की बात कब की? मैं तो मालवा के राजा इंद्रवर्मा के हाथी की बात कर रहा हूँ। उसका नाम भी अश्वत्थामा है! यदि इंद्रवर्मा के हाथी, अश्वत्थामा को मार दिया जाए और द्रोण से कहा जाए कि 'अश्वत्थामा मारा गया' तो शायद काम बन सकता है!"

"परंतु राजा इंद्रवर्मा तो हमारे पक्ष में युद्ध कर रहे हैं। हम उनके हाथी को कैसे मार सकते हैं?" अर्जुन ने पूछा।

"तुम्हें इंद्रवर्मा के हाथी की चिंता अधिक है या द्रोण की?" श्रीकृष्ण ने तीखे स्वर में सीधा प्रश्न किया।

"इस समय तो द्रोण को रोकना ही हमारी प्राथमिकता है, केशव!" अर्जुन ने घबराकर जल्दी से उत्तर दिया।

"तो फिर मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही करो!" श्रीकृष्ण बोले, "भीम से कहो वह तत्काल

अपनी गदा से इंद्रवर्मा के हाथी का वध कर दे और फिर द्रोण से कहे कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' जल्दी करो, अर्जुन! हमारे पास गँवाने के लिए समय नहीं है।"

कृष्ण से तर्क करने का कोई अर्थ नहीं था। अर्जुन ने तत्काल भीम को संदेश भिजवा दिया। कुछ ही देर बाद भीम रक्त से सनी अपनी भयंकर गदा लेकर 'अश्वत्थामा मारा गया! अश्वत्थामा मारा गया!' चिल्लाता हुआ द्रोण के समक्ष जा खड़ा हुआ। मैं सचमुच उस समय पूर्व दिशा में पहाड़ी की तलहटी के पास नकुल और सहदेव से युद्ध कर रहा था।

द्रोण ने भीम के मुँह से ये कठोर वचन सुने तो वे स्तब्ध रह गए। उन्होंने भीम को देखा। उसकी स्वर्णिम गदा के चमचमाते शीर्ष और मूठ से ताज़े रक्त की बूँदें टपक रही थीं। द्रोण उसे एकटक देखते रहे। उनके चेहरे के भाव बदल रहे थे। उनकी मुद्रा पहले-सी आक्रामक नहीं थी। उनके क्रोध से भरे नेत्रों के अंदर किसी कोने में उदासी ने जगह बना ली थी। उनका सिर घूम रहा था, परंतु वह सहसा सँभल गए। युद्ध-नीति में निपुण और शत्रु की चालों के विकट जानकार द्रोण के भीतर सहसा एक स्फुरण हुआ और उन्होंने कहा, "भीम! अश्वत्थामा कोई कच्ची मिट्टी का पुतला नहीं है, जिसे तुम अपनी गदा के प्रहार से यूँ ही ध्वस्त कर दोगे। वह मेरा पुत्र, अश्वत्थामा है! वह द्रोण पुत्र अश्वत्थामा है! उसका तन फौलाद का बना है। तुम्हारी भुजाओं में निस्संदेह हज़ार हाथियों का बल है, किंतु अश्वत्थामा को मारने की लिए तुम्हारा बल भी अपर्याप्त है! मुझे तुम्हारी बात पर लेश-मात्र भी विश्वास नहीं है। मैं जानता हूँ कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा अभी जीवित है!"

कृष्ण ने देखा कि स्थिति भीम के नियंत्रण से बाहर जा रही थी और यदि द्रोण को तुरंत अश्वत्थामा की मृत्यु पर विश्वास नहीं दिलाया गया तो वह दोबारा युद्ध करना आरंभ कर देंगे। वह मुस्कराते हुए बोले, "आचार्य द्रोण! निस्संदेह अश्वत्थामा अत्यंत बलशाली और पराक्रमी था किंतु यह सत्य है कि उसका तन भीम की गदा के प्रहारों को अधिक देर नहीं झेल सका। आप स्वयं ही बताएँ कि अश्वत्थामा की मृत्यु पर आप कैसे विश्वास करेंगे!" कृष्ण में यह विलक्षण गुण था कि वह अपने घोर शत्रु से बात करते हुए भी मुस्करा लेते थे और अपनी मधुर बातों से किसी को भी अपने वश में कर सकते थे।

कृष्ण की बात सुनकर द्रोण सोच में डूब गए। एक लंबे विराम के बाद उन्होंने कृष्ण से कहा, "इस पूरी पृथ्वी पर केवल युधिष्ठिर है, जो तीनों लोकों का राज्य पाने के लोभ में भी कदापि झूठ नहीं बोल सकता। यदि युधिष्ठिर अश्वत्थामा की मृत्यु की पुष्टि कर दे, तो मैं यह बात मान लूँगा!"

अर्जुन और भीम एक-दूसरे को देखने लगे। उन्हें द्रोण से इस प्रकार की शर्त की अपेक्षा नहीं थी। द्रोण की बात सुनकर युधिष्ठिर को आगे आना पड़ा। मैंने युधिष्ठिर के मस्तक पर चिंता की ऐसी गहरी लकीरें इससे पहले कभी नहीं देखी थीं। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। वह झूठ बोल नहीं सकता था और यदि सच कह देता तो द्रोण के हाथों, भीम की मृत्यु निश्चित थी! द्रोण इस ऊहापोह की स्थिति में, अपने रथ से नीचे उतर आए।

उस समय, उनका ध्यान श्रीकृष्ण की ओर नहीं था। उस अवसर का लाभ उठाकर, कृष्ण आगे बढ़े और उन्होंने युधिष्ठिर के कान में धीरे से कुछ कहा, जिसे सुनकर युधिष्ठिर की चिंता लगभग मिट गई।

“आचार्य!” युधिष्ठिर ने बड़े आत्म-विश्वास के साथ द्रोण को संबोधित करते हुए कहा, “मुझे अत्यंत खेद है कि अश्वत्थामा मारा गया!” यह वाक्य बोलने के तुरंत बाद युधिष्ठिर ने धीरे-से जोड़ा, “मनुष्य नहीं, अपितु हाथी!” युधिष्ठिर ने वह वाक्यांश इतना धीरे-से बोला कि द्रोण तो दूर, युधिष्ठिर के निकट खड़े अर्जुन और भीम भी उसे सुन नहीं सके। द्रोण को विश्वास था कि युधिष्ठिर के झूठ बोलने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सत्यवादी युधिष्ठिर के मुँह से अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनते ही द्रोण के हाथ-पाँव शिथिल पड़ गए। एक पिता के लिए उसके पुत्र की मृत्यु से अधिक दुखद क्या हो सकता है! द्रोण ने अपना धनुष नीचे रख दिया और नीचे बैठ गए। श्रीकृष्ण के पास हर समस्या की काट थी!

बड़े-बड़े महारथियों को पल-भर में धूल चटा देने वाला वह महान योद्धा आज स्वयं धूल में बैठा अश्रु बहा रहा था। जिन कुशल हाथों ने कितने ही राजकुमारों को धनुर्विद्या में सिद्धहस्त बना दिया था, आज उन हाथों में न तो धनुष उठा पाने का सामर्थ्य शेष था और न ही युद्ध की इच्छा बाक़ी रह गई थी। अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर, द्रोण अंदर से इतने टूट गए कि उन्होंने धरती पर बैठे-बैठे आँखें बंद कर लीं और योगनिष्ठ हो गए।

अर्जुन उस समय द्रोण की पीड़ा को भली-भांति महसूस कर पा रहा था। जिस महान गुरु ने पांडवों को सर्वश्रेष्ठ योद्धा और कुशल धनुर्धर बनाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया, आज उसका अपना जीवन उन्हीं पांडवों के मिथ्या-वचन के कारण संकट में था। अर्जुन का मन ग्लानि से भर आया परंतु अब देर हो चुकी थी। कृष्ण के तरकश से निकला बाण निष्फल नहीं जा सकता था। अर्जुन द्वारा युद्ध से पूर्व नारायणी सेना छोड़कर, श्रीकृष्ण को चुनने का निर्णय सार्थक हो गया था!

द्रोण को हताश और निहत्था बैठे देख कृष्ण ने आस-पास दृष्टि घुमाई। वे देख रहे थे कि पांडव, जो इतने लंबे समय से द्रोण के धनुष छोड़ने की प्रतीक्षा कर रहे थे, अब अवसर आने पर द्रोण के दुख से दुखी थे। कृष्ण समझ गए कि किसी भी पांडव के लिए अपने विषाद-ग्रस्त गुरु पर वार कर पाना संभव नहीं होगा। कृष्ण ने, अवसर और समय को हाथ से निकलता देख, तत्काल धृष्टद्युम्न को संकेत कर दिया।

द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न के लिए अपने पिता की पराजय और उनके अपमान का बदला लेने का इससे बेहतर अवसर क्या हो सकता था! वह अपनी तलवार लेकर आगे झपटा और बिना संकोच किए उसने एक झटके से आचार्य द्रोण के केश पकड़ उनका सिर काट दिया। अगले ही पल द्रोण का सिर धरती पर लुढ़क गया। द्रोण के शरीर से रक्त की धार फूटी और उनके आस-पास की भूमि तत्काल रक्तरंजित हो गई।

युद्ध में कोई निहत्थे शत्रु पर वार नहीं करेगा! निहत्थे द्रोण की हत्या के साथ, अन्य

नियमों की भांति, महायुद्ध का यह नियम भी टूट चुका था। इस महायुद्ध की यह अनोखी विशेषता थी कि इसके आरंभ में बनाए गए लगभग समस्त नियम, युद्ध के अंत तक तोड़े जा चुके थे।

मैं जब संध्याकाल में युद्ध से लौटा तो देखा कि शिविर में शोक और मातम छाया हुआ था। मेरे प्रवेश करते ही सब मेरी ओर विचित्र ढंग से देखने लगे। मैंने आस-पास दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि हमारी सेना के सभी प्रमुख योद्धा मौजूद थे। अपने पिता को वहाँ न देख, मेरा दिल बैठ गया! मैं आगे को दौड़ा और फिर सहसा, ठिठककर रुक गया। मेरे पिता व गुरु द्रोणाचार्य का ख़ून से लथपथ सिरविहीन शव ज़मीन पर पड़ा था। मुझे याद नहीं कि उस समय, मुझे क्रोध और दुख में अधिक क्या महसूस हो रहा था!

“यह असंभव है!” मैंने चिल्लाकर कहा, “मेरे पिता की मृत्यु असंभव है!”

“तुम ठीक कहते हो पुत्र!” मामा कृपाचार्य ने हाथ से मेरे आँसू पोंछते हुए कहा, “आचार्य द्रोण को मार पाना असंभव था। वे मानव, वरुण, आग्नेय, ब्रह्म, इंद्र और नारायण-अस्त्र के ज्ञाता थे। वे शस्त्र विद्या में परशुराम से और युद्ध में इंद्र से समानता रखते थे। उनका पराक्रम कार्तवीर्य के समान था। वे बुद्धि में बृहस्पति के तुल्य थे। धर्मज्ञ, स्थिर व तेजस्वी होने के साथ-साथ वे समुद्र की भांति गंभीर थे। परंतु उन्हें छल से पहले निहत्था किया गया और फिर अधर्मी धृष्टद्युम्न ने तुम्हारे पिता का सिर काट डाला।” इसके बाद कृपाचार्य ने मुझे इंद्रवर्मा के हाथी अश्वत्थामा के नाम से द्रोण के साथ किए गए छल की पूरी घटना भी सुनाई।

मैंने किसी तरह अपने आँसुओं को रोका। परंतु क्रोध से मेरा तन काँप रहा था। मैंने सबके समक्ष गरजकर कहा, “मेरे पिता वीरों की भांति लड़ते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, इसलिए अब मैं उनके लिए अधिक शोक नहीं करूँगा। परंतु मेरे पिता ने हथियार डाल दिए थे, फिर भी उस अधर्मी धृष्टद्युम्न ने न केवल उनके केश पकड़कर उन्हें सबके सामने अपमानित किया, बल्कि निहत्था होने के बावजूद उनकी हत्या कर दी। इसके लिए मैं उस पापी धृष्टद्युम्न को कभी क्षमा नहीं करूँगा! उसे अपने पाप का परिणाम भोगना पड़ेगा!”

सहसा मेरे मेरी आँखों के सामने वह दृश्य उभर आया जब हम छह महारथियों ने मिलकर द्रोण-निर्मित चक्रव्यूह के अंदर फँसे अकेले व निहत्थे अभिमन्यु को निर्ममता से मार डाला था। क्या नियति ने द्रोण को एक मानसिक व्यूह में फँसाकर मरने पर विवश नहीं कर दिया था? कहीं ऐसा तो नहीं कि नियति ने निहत्थे अभिमन्यु की हत्या के कारण उसके पिता को हुई घोर पीड़ा का प्रतिशोध मेरे पिता की हत्या के फलस्वरूप मुझे यह घोर पीड़ा देकर लिया था?

जो भी हो, मैं अपने पिता की हत्या से इतना अधिक उन्मत्त हो गया कि सब कुछ जानते-समझते हुए भी मैंने रणभूमि में शत्रु के सर्वनाश की प्रतिज्ञा की। मैंने अपनी भुजाओं को ऊपर उठाया और कहा, “संसार के लोग पुत्र की कामना इसलिए करते हैं कि वह समय आने पर इहलोक और परलोक में अपने पिता की रक्षा कर सके। परंतु मुझ जैसे पुत्र के होते

हुए भी मेरे पिता की ऐसी दुर्दशा हुई। धिक्कार है मेरे दिव्यास्त्रों को! धिक्कार है इन भुजाओं को और मेरे पराक्रम को! अब मेरे जीवन का बस यही उद्देश्य है कि मैं अपने पिता के अपमान एवं उनकी छलपूर्वक हुई हत्या का प्रतिशोध लूँ!"

"धृष्टद्युम्न ने निश्चित ही महापाप किया है, अश्वत्थामा!" दुर्योधन ने मेरे कँधे पर हाथ रखकर सहानुभूति व्यक्त करनी चाही, "परंतु मेरे विचार से इस कुकृत्य में सबसे बड़ा दोषी युधिष्ठिर है। वह स्वयं को धर्म का अंश कहता है, लेकिन उसने नीचता भरा काम किया है। उसे अवश्य ही इसका दंड मिलना चाहिए!"

दुर्योधन मेरी वेदना की अग्नि में अपने रक्त को गर्म करने का प्रयास कर रहा था! वह धीरे-धीरे मुझे पांडवों के विरुद्ध उकसा रहा था। वह और उसकी सेना पिछले पंद्रह दिन में पांडवों का सर्वनाश करने में विफल रहे थे और इसलिए अब दुर्योधन ने मेरी आहत भावनाओं को अपना अस्त्र बना लिया था। मैं अपने पिता की हत्या से इतना क्षुब्ध था कि मैंने स्वयं को भावावेश में बह जाने दिया।

"कल सुबह," मैंने आगे कहा, "जब मैं रथ में बैठकर रणभूमि में उतरूँगा तो मुझे पांडव तो क्या, देवता, गंधर्व, असुर, नाग और राक्षस भी नहीं रोक सकेंगे! मैं कल ही पांडवों की संपूर्ण सेना को मिट्टी में मिलाकर रणभूमि में प्रलय की स्थिति पैदा कर दूँगा। बहुत हो गई श्रीकृष्ण की लीला!" यह कृष्ण के विरुद्ध मेरी प्रथम टिप्पणी थी।

"बहुत अच्छा!" दुर्योधन ने कहा, "परंतु अर्जुन को कम न आँको, अश्वत्थ! मत भूलो कि वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर ही नहीं, अस्त्रवेत्ता भी है। उससे अधिक अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान किसी को नहीं है। ऐसे में क्या अर्जुन को पराजित कर पाना संभव..."

"जानता हूँ," मैंने दुर्योधन की बात को बीच में ही काट दिया, "परंतु मेरे पास भी एक अस्त्र है जिसकी काट किसी के पास नहीं है। यह शत्रु का नाश किए बिना नहीं लौटता। इस संसार में उस अस्त्र के लिए कोई भी अवध्य नहीं है, इसलिए जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग कर दिया जाए, उसके जीवित बचने का कोई उपाय नहीं है!"

"अरे वाह!" दुर्योधन अत्यंत प्रसन्न हो गया, "ऐसा कौन-सा अस्त्र है तुम्हारे पास? वह तुम्हारे पास कहाँ से आया?"

"नारायणास्त्र!" मैंने आत्मश्लाघा से कहा, "यह दिव्यास्त्र स्वयं भगवान नारायण ने मेरे स्वर्गीय पिता को उनकी तपस्या के फलस्वरूप दिया था। बाद में मेरे हठ करने पर मेरे पिता ने मुझे इसका प्रयोग करना सिखाया था। यही एक अस्त्र है जिसका प्रयोग अर्जुन नहीं जानता। इसी के प्रयोग से मैं कल सुबह पांडवों और उनकी समस्त सेना का नाश कर दूँगा।"

वह रात, सुबह की प्रतीक्षा करते कट गई। अगले दिन युद्ध आरंभ होने पर मैंने आचमन एवं मंत्रोच्चारण किया। अगले ही क्षण वह दिव्य नारायणास्त्र प्रकट हो गया। यह उसी अस्त्र की ही महिमा थी कि सहसा आकाश में मेघ गरजने लगे और तेज हवा बहने लगी। मौसम

को यूँ बदलता देख दोनों ओर की सेनाएँ अत्यंत हैरान थीं। चारों ओर से भयानक गर्जन सुनाई पड़ रहा था। समुद्र में तूफ़ान उठने लगा और बड़ी-बड़ी नदियों ने अपने प्रवाह की दिशा बदल दी। पर्वतों के शिखर टूटकर बिखरने लगे। कुल मिलाकर, ऐसी स्थिति बन गई, जिसे देखने से ही प्रलय का एहसास होने लगा। योद्धा अपनी-अपनी जगह पर रुक गए और सभी की दृष्टि मेरे हाथ में मौजूद नारायणास्त्र पर टिक गई। मुझे अचानक याद आया कि भगवान नारायण ने अपना वह अस्त्र मेरे पिता द्रोण को देते हुए कहा था कि इसका प्रयोग उन्मादित होकर नहीं करना चाहिए। इस विचार ने मेरे हाथों को रोक लिया। मैं सोच में पड़ गया।

"सोच में मत पड़ो, अश्वत्थामा!" दुर्योधन की आवाज़ मेरे कानों में पड़ी। शायद उसने मेरी दुविधा को भाँप लिया था और वह नहीं चाहता था कि नारायणास्त्र में छिपी पांडवों के विनाश की अंतिम संभावना मेरी दुविधा की भेंट चढ़ जाए। "अपने पिता की मृत्यु को याद करो," वह चीख़ा, "अस्त्र चलाओ अश्वत्थ!"

मैं अपने आवेश को सँभाल न सका और मैं कुछ सोच-समझ पाता, उससे पूर्व मेरे हाथ से नारायणास्त्र छूट गया। उसमें से हज़ारों बाण निकले जिनके अग्रभाग प्रज्ज्वलित थे। उन बाणों से आकाश की समस्त दिशाएँ आच्छादित हो गईं। उसके बाद उसमें से लोहे के गोले, द्विचक्र, गदा आदि अनेक अस्त्र प्रकट होने लगे जिनमें छुरे लगे हुए थे। ये अस्त्र-शस्त्र पांडवों की सेना को तेज़ी से नष्ट करने लगे। इस भयावह अस्त्र के प्रभाव से पांडव सेना तितर-बितर होकर यहाँ-वहाँ भागने लगी। वह दिव्यास्त्र अत्यंत द्रुत गति से शत्रु के सैनिकों का संहार कर रहा था। उससे सभी को विश्वास हो गया कि शीघ्र ही, वह युद्ध कौरवों के पक्ष में हो जाएगा।

श्रीकृष्ण के लिए यह एक बार फिर चुनौती की घड़ी थी। उन्होंने तत्काल पांडवों को एक जगह बुलाकर कहा, "नारायणास्त्र को शांत करने का बस एक ही तरीक़ा है कि इसके सामने हथियार डालकर सिर झुका दिया जाए। चूंकि अश्वत्थामा ने इसका प्रयोग मुख्य रूप से हमारे विरुद्ध किया है तो अब तुम सब लोग अपने-अपने रथ से नीचे उतर आओ और अस्त्र-शस्त्र छोड़कर नारायणास्त्र को प्रणाम करो, अन्यथा आज तुम सबकी मृत्यु निश्चित है!"

श्रीकृष्ण की वाणी की अवहेलना करने से बड़ी मूर्खता क्या हो सकती थी! पांडवों ने अपने-अपने शस्त्रादि छोड़ दिए और वे सब तत्काल रथ से नीचे कूद आए। उन्होंने सिर झुकाकर उस अनोखे दिव्यास्त्र को नमन किया। ऐसा करते ही नारायणास्त्र शांत हो गया।

मैं यह मानता हूँ कि यदि दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की नारायणी सेना स्वीकार करने की मूर्खता न की होती तो पांडवों के लिए वह युद्ध जीत पाना असंभव था। परंतु यह भी कहाँ संभव था! आख़िर, धर्म तो पांडवों के साथ ही था। जहाँ धर्म है, वहीं कृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं तो विजय है!

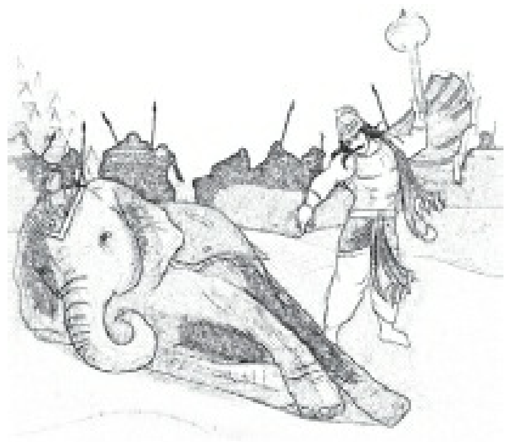

24

युद्ध की विनाश-लीला जारी थी। चारों ओर चिरे-कटे और ख़ून से लथपथ शवों के ढेर लगे हुए थे। रणभूमि में शायद ही कोई स्थान शेष था, जहाँ पर भूमि अपने मूल रूप में दिखाई दे रही थी। युद्ध में सामान्यतया ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब युद्ध अपने चरम को पार कर अंत की ओर अग्रसर होता है। दोनों ओर से भयंकर युद्ध लड़ा जा रहा था। तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र चलाए जा रहे थे। चारों तरफ़ रक्तपात हो रहा था। एक दुराग्रही, हठधर्मी एवं अति महत्त्वाकांक्षी दुर्योधन के कारण दोनों ओर के असंख्य सैनिक अब तक अपने प्राण गँवा चुके थे।

मेरे पिता द्रोण की मृत्यु के बाद कर्ण को सेनापति नियुक्त किया गया था। सेनापति बनने के बाद कर्ण का आत्मविश्वास भी बढ़ गया। युद्ध कौशल में तो वह पारंगत था ही, वह साहस एवं पराक्रम में भी बेजोड़ था। अर्जुन की भांति उसके पास भी अनेक प्रकार के दिव्यास्त्र थे। वह बीच-बीच में उनका प्रयोग करता था जिनका सामना करना पांडव सेना के लिए भारी पड़ जाता था। मुख्य रूप से युद्ध उस समय अर्जुन और कर्ण के बीच चल रहा था। दोनों एक-दूसरे के रक्त के प्यासे थे। उनके बीच हो रहे संघर्ष को देखने से यह स्पष्ट था

कि दोनों में से एक की मृत्यु के बाद ही युद्ध थमेगा। इस बात से मुझे एक बात और याद आई। महर्षि दुर्वासा से कुंती को मिले वरदान के फलस्वरूप पांडवों के जन्म की कथा सुनाते समय मैंने कहा था कि कभी-कभी वरदान भी अभिशाप बन जाते हैं। मैंने उस समय एक रहस्य के विषय में भी बात की थी। उस रहस्य को प्रकट करने का अब समय आ गया है!

महर्षि दुर्वासा से वरदान पाकर कुंती इतनी प्रसन्न हो गई कि उसके मन में वरदान को परखने का इच्छा जाग्रत हो गई। उसने सबसे पहले सूर्यदेव का आह्वान किया। वरदान के झूठा होने का कोई प्रश्न नहीं था! सूर्यदेव प्रकट हो गए। कुंती ने उन्हें प्रणाम किया तो उन्होंने कुंती से कुछ माँगने को कहा। तब कुंती ने उन्हें सच बता दिया कि वह केवल वरदान को परखना चाहती थी और फिर उसने सूर्यदेव से क्षमा माँगते हुए उनसे लौट जाने का अनुरोध किया था। परंतु सूर्यदेव के लिए बिना कुछ दिए लौट जाना संभव नहीं था। इसी दुविधा के बीच, सूर्यदेव ने कुंती को एक पुत्र देने का निर्णय कर लिया। कुंती उस समय अविवाहिता थी। उसके लिए, विवाह से पूर्व अपने शरीर का दान करना संभव नहीं था। तब सूर्यदेव ने अपनी दिव्य शक्ति से, बिना स्पर्श किए, कुंती के गर्भ में एक पुत्र स्थापित कर दिया। यथासमय, कुंती के गर्भ से एक तेजस्वी बालक ने जन्म लिया। वह बालक अपने पिता के समान प्रकाशमान था। वह शरीर पर स्वर्ण कवच और कानों में स्वर्ण कुंडल पहने हुए था। उसके कंधे बैल के समान बलिष्ठ तथा नेत्र सिंह के समान ओजस्वी थे। कुल की अपकीर्ति और लोक-लाज के भय से कुंती ने एक धाय के साथ मिलकर उस बालक को टोकरी में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया। कुछ समय बाद, वह टोकरी बहती हुई यमुना नदी से गंगा नदी में जा पहुँची। वह टोकरी जिस समय चंपापुरी क्षेत्र से बहती हुई जा रही थी, उसे धृतराष्ट्र के सारथी, अधिरथ ने देख लिया। अधिरथ निस्संतान था, तो वह उस दिव्य बालक को भगवान का प्रसाद मानकर अपने घर ले आया। इसके बाद अधिरथ और उसकी पत्नी राधा ने मिलकर उस बालक का पालन-पोषण किया।

आपका अनुमान सही है! यही बालक बड़ा होकर कर्ण कहलाया! हाँ, यही पूर्ण सत्य है कि कर्ण वास्तव में कुंती-पुत्र था और इस नाते वह पांडवों का ज्येष्ठ भाई था। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि कर्ण और कुंती दोनों ही इस रहस्य को युद्ध आरंभ होने से पहले से जानते थे! युद्ध के बाद जब मेरे मामा कृपाचार्य ने मुझे यह बात बताई तो मैंने उनसे सबसे पहला प्रश्न यही किया, "क्या कुंती ने कर्ण को उसके जन्म की बात बताकर उसे पांडवों के साथ रहने के लिए आग्रह नहीं किया? सब कुछ पता लगने के बाद भी कर्ण ने दुर्योधन का साथ क्यों दिया और अपने भाइयों के विरुद्ध युद्ध क्यों किया?"

मामा कृप ने बताया, "अश्वत्थामा! कुंती जानती थी कि दुर्योधन, युद्ध में मुख्य रूप से कर्ण पर ही निर्भर था और यदि कर्ण उसका साथ छोड़ देता तो पराजय के भय से शायद दुर्योधन युद्ध को रोक सकता था। यही सोचकर एक दिन कुंती ने कर्ण से मिलने का निश्चय किया और वह कर्ण के स्नान-ध्यान के समय गंगा-तट पर जा पहुँची।"

कुंती को देखकर कर्ण ने उसे प्रणाम किया और पूछा, "यह सूतपुत्र आपकी क्या सेवा

कर सकता है?”

“कर्ण, स्वयं को सूतपुत्र न कहो! मैं आज तुम्हें यही बताने आई हूँ कि तुम सूतपुत्र नहीं हो! तुम मेरे पुत्र हो, तुम कुंती के पराक्रमी ज्येष्ठ पुत्र, कर्ण हो! तुम यशस्वी पांडवों के ज्येष्ठ भाई, कर्ण हो!”

“यह आप क्या कह रही हैं?” कर्ण व्याकुल हो उठा, “मैं, और आपका पुत्र... यह कैसे संभव है?”

इसके बाद कुंती ने कर्ण को दुर्वासा से मिले वरदान और सूर्यदेव के अंश से कर्ण के जन्म की कथा सुनाई। कुंती ने कर्ण के सामने रो-रोकर माँ का दायित्व न निभा पाने के लिए उससे क्षमा भी माँगी।

“मुझे क्षमा कर दो पुत्र,” वह बोली, “मैंने लोक-लाज के भय से तुम्हें जन्म के समय त्याग दिया और अपने कुल की कीर्ति अक्षुण्ण रखने के लिए तुम्हारा भविष्य और वर्तमान खंडित कर दिया! मैं अपना अपराध स्वीकार करती हूँ और तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपने भाइयों के साथ मिलकर रहो। मैं तुम्हें वचन देती हूँ कि युधिष्ठिर और उसके अनुज तुम्हें यथोचित सम्मान देंगे और तुम इंद्रप्रस्थ के राजा बनोगे! दुर्योधन दुष्ट और कपटी है। वह जानता है कि तुम्हारी सहायता के बिना वह युद्ध नहीं जीत सकता। उसका साथ छोड़ दो, कर्ण!”

कुंती ने एक श्वास में सबकुछ कह दिया, जो इतने वर्षों से वह अपने मन में दबाए बैठी थी। कुंती को विश्वास था कि अपनी वास्तविक माता को सामने देखकर कर्ण न केवल हर्षित हो जाएगा अपितु, तत्काल दुर्योधन का पक्ष छोड़कर ज्येष्ठ पांडव बनना स्वीकार कर लेगा।

परंतु कर्ण साधारण मनुष्य नहीं था। वह दिव्य था! निष्ठा और कर्तव्यपरायणता से ही उसके व्यक्तित्व की शोभा थी।

“आपने मुझे जन्म दिया है और इस नाते आप मेरे लिए पूजनीय हैं। परंतु मैं क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी आजीवन सूतपुत्र कहलाया। मेरा इससे बड़ा अपमान क्या होगा? मेरे यश की इससे अधिक क्षति क्या होगी? रंगभूमि में जिस समय पांडव, आपकी उपस्थिति में, मुझे ‘सूतपुत्र’ कह रहे थे और मेरा उपहास कर रहे थे, उस समय केवल दुर्योधन ही एक व्यक्ति था जिसने मेरी पीड़ा को समझा और मुझे सहारा दिया। उसने मुझे अंगदेश का राज्य देकर राजकुमारों से भरी उस रंगभूमि में न केवल समान अधिकार दिया, बल्कि मुझे अनादर व तिरस्कार से भी बचाया!”

“परंतु पुत्र,” कुंती ने मुझे टोकते हुए कहा, “दुर्योधन ने यह सब स्वार्थ के वश किया है। उसने पांडवों से प्रतिशोध लेने के लिए तुम्हें केवल अपना मोहरा बनाया है।”

“मैं जानता हूँ,” कर्ण ने दो टूक उत्तर दिया। “परंतु यदि मेरे जन्म के समय आपके द्वारा स्वार्थवश मेरा त्याग करना उचित है, तो दुर्योधन द्वारा स्वार्थवश मुझे अपनाना अनुचित

कैसे हो सकता है? रंगभूमि में पांडव मेरे विषय में कुछ नहीं जानते थे, परंतु दुर्योधन भी मुझसे अंजान था, फिर भी उसने एक सच्चे योद्धा की भांति मेरा सम्मान किया। मैं आज जो कुछ हूँ, दुर्योधन के कारण हूँ, अन्यथा लोगों ने तो मुझे 'सूतपुत्र! सूतपुत्र!' कहकर मेरे आत्म-विश्वास को चूर-चूर कर दिया था। आज वस्तुस्थिति जो भी हो, किंतु अब मैं दुर्योधन के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता।"

कर्ण से सत्य कहकर कुंती के मन का बोझ अवश्य हल्का हो गया था, किंतु कर्ण का दृढ़ संकल्प देखकर और उसका कटाक्ष सुनकर कुंती की आत्मा पर कई गुना बोझ आ पड़ा। वह समझ गई कि कर्ण को पांडवों के पक्ष में करना संभव नहीं होगा। तब हताश कुंती ने एक अंतिम प्रयास किया।

"कर्ण!" वह बोली, "मैं तुम्हारी भावनाओं का सम्मान करती हूँ। तुम यदि दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ना चाहते तो ठीक है, किंतु तुम्हारी माँ होने के नाते क्या मैं तुमसे एक वचन माँग सकती हूँ?"

"अवश्य! कर्ण ने कभी किसी को निराश नहीं किया और फिर आप तो मेरी माँ हैं! माँगिए!"

"तुम मुझे वचन दो कि मेरे पाँचों पुत्र जीवित रहेंगे!" कुंती ने कर्ण से अपने पाँच पांडव पुत्रों का जीवन-दान माँगते हुए कहा क्योंकि उसे पता था कि कर्ण से सबसे अधिक ख़तरा कुंती के पुत्र अर्जुन को था।

"ओह!" कर्ण के चेहरे के भाव बदल गए। "मुझ पर दुर्योधन के उपकार का ऋण है और युद्ध में दुर्योधन के शत्रुओं का नाश करना मेरा दायित्व है। परंतु मैं आपको भी निराश नहीं करूँगा। मैं आपके सभी पुत्रों को मार सकता हूँ, किंतु मैं आपको वचन देता हूँ कि अर्जुन को छोड़कर मैं युधिष्ठिर, भीम, नकुल व सहदेव - इनमें से किसी का वध नहीं करूँगा। मेरा मुक़ाबला मुख्य रूप से अर्जुन से है और उसके वध से ही मुझे यश व संतोष मिलेगा। यदि मैं मारा गया तो अर्जुन जीवित रहेगा और यदि अर्जुन मारा गया तो मैं जीवित रहूँगा। इस तरह, दोनों ही स्थितियों में आपके पाँच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे! आशा करता हूँ कि यह आपको स्वीकार्य होगा। अब मुझे आज्ञा दीजिए। प्रणाम!" यह कहकर कर्ण मुड़ा और कुंती को उसकी दुविधा के साथ वहीं खड़ा छोड़ चला गया।

कुंती को वह पल याद आ रहा था जब उसने नन्हे कर्ण को टोकरी में लिटाकर नदी में बहा दिया था। उस समय कुंती ने अपने सम्मान की रक्षा हेतु अपने पुत्र को त्याग दिया था, आज उसी पुत्र ने अपने सम्मान एवं वचन की रक्षा के लिए अपनी माँ का परित्याग कर दिया था! क्या नियति कुंती से प्रतिशोध ले रही थी?

इस बीच अर्जुन और कर्ण का आमना-सामना हो गया। उन दोनों के बीच का वह युद्ध, इस महासमर का एक महत्त्वपूर्ण अंश था। शीघ्र ही दोनों ओर से बाणों की निरंतर वर्षा होने लगी। अर्जुन और कर्ण दोनों का रूप वीभत्स होता जा रहा था। वे दोनों जब अपने-अपने

जीवन का निर्णायक युद्ध लड़ रहे थे, उसी बीच समय का पहिया अपनी धुरी पर घूमता हुआ ऐसे बिंदु पर आ पहुँचा था जहाँ से आगे का मार्ग कर्ण के लिए कठिनाइयों से भरा था। इसे ठीक से समझने के लिए कर्ण के जीवन की दो अन्य घटनाओं का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है।

एक बार कर्ण विद्याध्ययन के लिए गुरु की तलाश करता हुआ परशुराम के पास पहुँच गया। उसे किसी ने बताया था कि परशुराम को क्षत्रियों से चिढ़ थी और वे केवल ब्राह्मणों को शिक्षा देते थे। ऐसे में कर्ण ने उनसे झूठ बोला कि वह ब्राह्मण है और छलपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर ली। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद, कर्ण और परशुराम टहलते हुए आश्रम से दूर निकल आए। परशुराम को थकान से नींद आने लगी तो वे कर्ण की गोद में सिर रखकर सो गए। उसी समय एक कीड़ा, कर्ण की जाँघ पर चढ़ गया और उसे काट लिया। कीड़े के दंश से कर्ण को भयंकर दर्द हुआ और उसकी जाँघ से ख़ून बहने लगा। कर्ण को अपने गुरु की निद्रा भंग हो जाने का डर था, इसलिए उसने अपना पाँव नहीं हिलाया। घाव से ख़ून बहने लगा, किंतु कर्ण उस पीड़ा को सहन करके शांति से बैठा रहा और अपने गुरु के उठने की प्रतीक्षा करता रहा। कुछ ही देर में कर्ण की जाँघ से बहता हुआ रक्त परशुराम के चेहरे पर टपक गया तो उनकी नींद खुल गई और वह उठ बैठे। परशुराम ने देखा कि कर्ण की जाँघ से काफ़ी ख़ून बह चुका था। उन्होंने कर्ण से पूछा तो उसने परशुराम को बताया कि उनकी निद्रा भंग होने के डर से, वह उस भयंकर पीड़ा को सहन करता रहा। परशुराम को यह समझते देर न लगी कि इतनी पीड़ा सहन करना किसी ब्राह्मण के लिए संभव नहीं है। पृथ्वी पर सत्रह बार क्षत्रियों का संहार करने के बाद परशुराम के लिए क्षत्रिय रक्त की गंध पहचानना कठिन नहीं था! उन्हें ज़बरदस्त क्रोध आ गया और वह बोले, “मूर्ख! तूने अपने गुरु को धोखा दिया है। तू क्षत्रिय होकर स्वयं को ब्राह्मण बताता है?”

यह सुनकर कर्ण ने उन्हें अपना असली परिचय दिया और कहा कि वह न तो क्षत्रिय है और न ही ब्राह्मण, अपितु वह सूतपुत्र है। कर्ण ने परशुराम से क्षमा याचना की, परंतु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। परशुराम का क्रोध अपनी पराकाष्ठा पार कर चुका था। उन्होंने कर्ण की किसी बात पर विश्वास नहीं किया और उसे शाप दे दिया: “तूने, जो शिक्षा मुझसे छल द्वारा प्राप्त की है, वह भी तेरे साथ छल करेगी और जिस क्षण तुझे इस विद्या की सबसे अधिक आवश्यकता होगी, उसी पल यह तेरे मस्तिष्क से विस्मृत हो जाएगी!”

यद्यपि मुझे लगता है कि कर्ण को क्षमा किया जा सकता था क्योंकि उसने परशुराम से झूठ अवश्य बोला था किंतु उसे अपने क्षत्रिय होने की जानकारी नहीं थी। परंतु क्षमा अत्यंत दुर्लभ गुण है जिसका दान देने से पूर्व मनुष्य को अपने अहं से मुक्त होना पड़ता है। परशुराम क्रोधी होने के साथ-साथ अहंकारी भी थे! उन्होंने कर्ण को क्षमा नहीं किया और कर्ण अपनी अकुलीनता के बोझ एवं परशुराम के शाप से ग्रस्त निराश होकर आगे चल दिया।

इस घटना के बाद कर्ण को लगा कि वह अपने लक्ष्य के निकट पहुँचकर, उससे बहुत दूर हो गया था। उसने हताश होकर फिर से अपनी यात्रा आरंभ कर दी। कुछ समय बाद, वह

घूमता हुआ एक गाँव के निकट पहुँच गया। उस समय तक अँधेरा हो गया था तो कर्ण ने रात्रि ने उसी गाँव में बिताने का निश्चय किया। रात में वह एक वृक्ष के नीचे लेटा हुआ था। सहसा उसने झाड़ियों के समीप सरसराहट सुनी। वहाँ किसी जंगली पशु को खड़ा समझकर, कर्ण ने उस पर शब्द-भेदी बाण चला दिया। उसका निशाना अचूक था। वह पशु, करुण चीत्कार करता हुआ नीचे गिर पड़ा। कर्ण ने निकट जाकर देखा कि उसके हाथों भूल से एक निर्दोष गाय की हत्या हो गई थी! कर्ण भयभीत हो गया। वह जानता था कि गाय के स्वामी को इस बात का पता लगते ही वह कर्ण को दंड देना चाहेगा। कर्ण चाहता तो वहाँ रात्रि में से भाग सकता था किंतु वह दुर्भाग्यशाली अवश्य था, कायर नहीं! वह मृत गाय के निकट बैठ गया और उसके शरीर से बहते रक्त को देखता रहा। उसने सुबह होने की प्रतीक्षा की। कुछ ही देर में, गाय का स्वामी जो एक ब्राह्मण था, अपनी गाय को खोजता हुआ वहाँ आ गया। कर्ण ने रात्रि में हुई दुर्घटना का विस्तार से उल्लेख किया और अपने अपराध के लिए उससे क्षमा माँगी। कर्ण ने जान-बूझकर गाय को नहीं मारा था, तथापि ब्राह्मण अत्यंत क्रोधित हो गया। उसने हाथ में जल लिया और कर्ण को शाप दे दिया: “तुम्हारे हाथों मेरी असहाय गाय की हत्या हुई है। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम्हारी भी मृत्यु इसी प्रकार असहाय स्थिति में होगी!”

कर्ण के पास अपने प्रारब्ध पर दुखी होने तथा परशुराम और उस ब्राह्मण के शाप के सत्य होने की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था।

मैं फिर से कर्ण और अर्जुन के युद्ध पर लौटता हूँ। दोनों ही योद्धाओं के बीच कड़ा मुक़ाबला था। सहसा कर्ण का रथ झटके से रुक गया। उसने नीचे झुककर देखा कि रथ का बायाँ पहिया जमीन में धँस गया था जिससे उसका रथ एक ओर झुकने लगा। युद्ध में अस्त्र-शस्त्र और युद्ध-कौशल जितने आवश्यक होते हैं, उतना ही महत्त्व रथ की स्थिति का भी होता है। कर्ण का रथ बायीं ओर झुकता जा रहा था। उसके घोड़े लड़खड़ाने लगे। रथ के पहिये को बाहर निकाले बिना कर्ण के लिए आगे बढ़ना संभव नहीं था। वह नीचे कूदा और पूरी शक्ति से रथ के पहिये को खींचने का प्रयास करने लगा। बहुत कोशिश करने के बाद भी पहिया नहीं हिला। कर्ण की स्थिति असहाय हो रही थी। कर्ण द्वारा जिस ब्राह्मण की गाय की हत्या हो गई थी, उसका शाप अपना प्रभाव दिखाने लगा था। कर्ण के माथे से पसीना टपक रहा था। उसने समस्त ऊर्जा रथ का पहिया निकालने में लगा दी, किंतु पहिया ऐसा धँसा कि फिर निकला ही नहीं!

इधर अर्जुन ने अवसर देखकर कर्ण पर बाणों की वर्षा कर दी। उसके बाणों के प्रहार से कर्ण का कवच कट गया और उसके शरीर से रक्त बहने लगा। उसने सिर उठाकर अर्जुन को देखा और बोला, “कुंतीनंदन! मैं जानता हूँ तुम बहुत बड़े धनुर्धर हो किंतु तुम जो कर रहे हो, वह श्रेष्ठ कुल के लोगों को करना शोभा नहीं देता। क्या तुम्हारे गुरु ने तुम्हें यह नहीं सिखाया कि ऐसे योद्धा पर, जिसके पास बाण न हो अथवा जिसका कवच कट गया हो, वार नहीं करना चाहिए? यदि तुम सच्चे योद्धा हो तो तनिक रुको और मुझे अपने रथ का पहिया बाहर निकालने दो! तुम रथ पर सवार हो और मैं नीचे धरती पर हूँ, इस नाते भी तुम्हें मुझ पर प्रहार

नहीं करना चाहिए। ऐसा करना युद्ध-धर्म के विरुद्ध है!"

कर्ण की बात सुनकर अर्जुन ने अट्टहास किया और बोला, "सूतपुत्र कर्ण! तुम्हारे जैसे अधर्मी के मुँह से युद्ध-धर्म की बातें शोभा नहीं देतीं। तुमने दुर्योधन के साथ मिलकर लाक्षागृह में हमें मरवाने का षड्यंत्र रचा, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था? कौरव सभा में सबके सामने तुमने रजस्वला द्रौपदी का अपमान किया, तब तुम्हें धर्म याद नहीं आया? कपटी शकुनि के साथ तुम लोगों ने द्यूत खेलने के बहाने, हमारे साथ छल किया और हमारा राज्य छीन लिया, उस समय तुम्हारे धर्म का कहाँ लोप हो गया था? जब तुम छह लोगों ने मिलकर मेरे निहत्थे पुत्र अभिमन्यु की निर्ममता से हत्या की थी, क्या तुम्हारा वह दुष्कृत्य धर्म के अनुसार था? तेरह वर्ष बीत जाने के बाद भी तुमने और तुम्हारे कुटिल मित्र दुर्योधन ने पांडवों का राज्य नहीं लौटाया, उस समय तुम्हें धर्म की याद नहीं आई? तुमने सदा से अधर्म का साथ दिया है और जब मृत्यु तुम्हारे सिर पर खड़ी है तो तुम धर्म की दुहाई दे रहे हो?"

कर्ण से अर्जुन का कटाक्ष सहन नहीं हुआ। उसने परशुराम से प्राप्त दिव्यास्त्रों का आह्वान करने हेतु अपना हाथ ऊपर उठाया और उन अस्त्रों से संबंधित मंत्रोच्चारण आरंभ किया किंतु उसे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि भरपूर प्रयासों के बाद भी उसे कोई मंत्र याद ही नहीं आ रहा था। अभी ब्राह्मण के शाप का प्रभाव पूरा भी नहीं हुआ था कि परशुराम का शाप भी उसके साथ जुड़ गया। कर्ण को लगा कि वह परशुराम से प्राप्त समस्त विद्या भूलता जा रहा है। कर्ण ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि दोनों शाप उसके जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध में एक साथ इस तरह प्रभावी हो जाएँगे। वह समझ गया कि उसका अंत समय आ पहुँचा था।

कर्ण ने अपने रथ के पहिये को निकालने के लिए अंतिम धक्का लगाया और विफल होकर वहीं ज़मीन पर बैठ गया। उसकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी जो अपने प्रचंड गांडीव पर बाण साधे तैयार था। इससे पहले कि कर्ण सँभल पाता, अर्जुन ने तीर चला दिया था। अर्जुन की यह विशेषता थी कि उसके द्वारा चलाए बाण का वेग इतना प्रचंड होता था कि वह किसी को दिखता भी नहीं था। अर्जुन ने जो बाण कर्ण पर छोड़ा था, उसे भी किसी ने नहीं देखा, किंतु अगले ही क्षण कर्ण की दर्दनाक चीख़ सुनाई पड़ी। वह बाण, कर्ण की छाती भेदकर उसकी पीठ से पार हो गया था। कर्ण का मुँह खुला था। उसने अश्रुपूरित आँखों से अपने पिता सूर्यदेव के अंतिम दर्शन किए और उन्हें देखते-देखते अपने प्राण त्याग दिए। अचानक आकाश में काले बादल छा गए। ऐसा लगा मानो सूर्यदेव भी कुछ क्षण के लिए अपने पुत्र की मृत्यु से शोकाकुल हो गए थे! कर्ण की मृत्यु से कौरव सेना, विशेषकर दुर्योधन के हौसले पूरी तरह पस्त हो गए थे। दुर्योधन ने अपने जिस सबसे विश्वसनीय एवं कुशल योद्धा-मित्र के भरोसे पर यह युद्ध लड़ने का ख़तरा उठाया था, वही उसे अकेला छोड़कर चला गया!

दुर्योधन ने आकाश की ओर देखा। उसे अपने ऊपर बादल मँडराते हुए दिखाई दिए। कहीं ये पराजय के बादल तो नहीं थे? वह घबरा गया। वह शवों से पटी रणभूमि को ताकने लगा। पंद्रह दिन पहले तक ग्यारह अक्षौहिणी सेना का नायक दुर्योधन समरभूमि में अकेला

खड़ा था। दुर्योधन और उसके कुछ सैनिकों के अतिरिक्त अब रणभूमि में केवल मैं, कृपाचार्य और कृतवर्मा जीवित बचे थे!

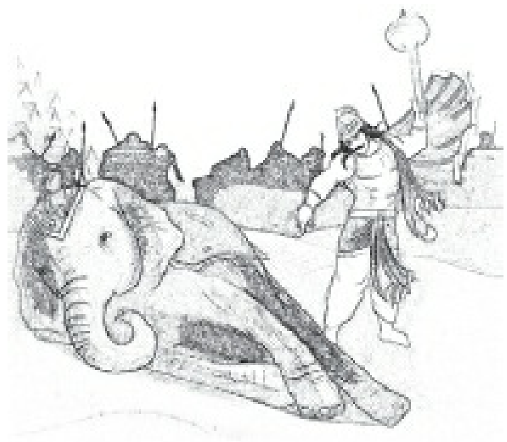

25

इतने दिनों तक निरंतर युद्ध करने से दुर्योधन का शरीर शिथिल हो गया था। इसके अतिरिक्त, अपनी सेना के संहार और सामने आसन्न पराजय का भय उसे सताने लगा। उसे कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। सहसा मैंने देखा कि दुर्योधन पूर्वी दिशा की ओर भागने लगा। इंद्रप्रस्थ के भावी सम्राट को इस तरह रथ छोड़कर पैदल भागते देख मुझे उस पर दया आ रही थी। परंतु यह सहानुभूति व्यक्त करने का समय नहीं था और वैसे भी उसके लिए अब देर हो चुकी थी। हम तीनों दुर्योधन के पीछे भागे। वह थोड़ा आगे जाकर एक सरोवर के भीतर प्रवेश करके उसमें छिप गया। उसके बाद उसने अपनी माया से सरोवर के पानी का बाँध दिया ताकि कोई उसमें प्रवेश न कर सके।

इधर पांडवों को दुर्योधन के सरोवर में छिप होने की बात का पता लगते देर न लगी। वे सब श्रीकृष्ण सहित सरोवर तक आ गए। दुर्योधन अपनी योगशक्ति और माया से सरोवर के बहुत अंदर छिपा हुआ था और दिखाई नहीं दे रहा था। युधिष्ठिर ने बाहर से ही दुर्योधन को ललकारा, "दुर्योधन! कायरों की भांति सरोवर के अंदर छिप कर क्यों बैठे हो? देखो, हम सब पांडव यहीं आ गए हैं। बाहर आओ, और हमें मारकर अपने राज्य का उपभोग करो!"

कुछ पल बाद सरोवर के अंदर से दुर्योधन का स्वर सुनाई पड़ा, "युधिष्ठिर! तुम किस राज्य को भोगने की बात कर रहे हो? अब न मेरे भाई जीवित हैं और न कोई अन्य नाते-रिश्तेदार। मैंने जिन लोगों के लिए यह युद्ध आरंभ किया था, जब वे लोग ही नहीं रहे तो अब इस युद्ध का क्या औचित्य है और इस राज्य को भोगने में क्या सुख है? मैं चाहूँ तो अकेला ही तुम पाँचों को अपनी गदा के प्रहार से यमलोक पहुँचा सकता हूँ किंतु अब मेरी रुचि न इस युद्ध में है और न ही राज-पाट में। अच्छा होगा कि तुम मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो और आनंद से अपने भाइयों के साथ रहो!"

यह विचित्र विडंबना थी कि दुर्योधन, जो किसी समय अपने राज्य में से सुई की नोक के बराबर भूमि भी देने को तैयार नहीं था, आज वह अपने समस्त परिवार एवं प्रियजनों को अपनी महत्त्वाकांक्षा की वेदी में स्वाहा करने के बाद उस राज्य को युधिष्ठिर को दान में देने की बात कर रहा था! यदि हठ के साथ कुटिलता का समावेश हो जाए तो यह संयोग अत्यंत ख़तरनाक हो सकता है। युधिष्ठिर पहले कई बार अपने सादगीपूर्ण व्यवहार के कारण दुर्योधन के कपट-जाल में फँस चुका था। वह दोबारा ख़तरा नहीं उठाना चाहता था। द्यूत में दुर्योधन से हारने के बाद युधिष्ठिर ने बहुत कुछ सीख लिया था। उसने नए तरीक़े से दाँव खेला।

युधिष्ठिर ने कहा, "दुर्योधन! तुम्हें अवश्य ही भीमसेन से डर लग रहा है, इसीलिए तुम बाहर आकर युद्ध नहीं करना चाहते। यदि ऐसा है तो मैं तुम्हारा यह डर भी दूर कर देता हूँ। तुम हम पाँच भाइयों में से किसी एक से गदा-युद्ध कर लो। यदि तुम जीत गए तो मैं इस महायुद्ध में अपनी पराजय स्वीकार कर लूँगा और यह राज्य भी तुम्हारा हो जाएगा और यदि तुम पराजित होकर मारे गए, तब तो तुम्हें स्वर्गलोक मिलना ही है!"

मैंने युधिष्ठिर की ओर देखा। मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। दुर्योधन ने गदा-युद्ध कृष्ण के बड़े भाई बलराम से सीखा था और इस कला में उसका मुक़ाबला करना भीम के अतिरिक्त किसी के लिए संभव नहीं था। तो फिर, युधिष्ठिर ने ऐसी मूर्खता भरी बात कैसे कह दी? इस प्रलोभन के पीछे युधिष्ठिर की कौन-सी चाल छिपी थी?

मैं अभी सोच ही रहा था कि दुर्योधन भीषण गर्जना के साथ सरोवर से बाहर निकल आया और बोला, "युधिष्ठिर! मैं थका हुआ अवश्य हूँ किंतु इतना दुर्बल नहीं हूँ कि अपने से किसी कमज़ोर योद्धा से युद्ध करूँ। मैं तुम्हारे साथ अथवा अर्जुन, नकुल या सहदेव के साथ गदा-युद्ध करके संसार को अपने ऊपर हँसने का अवसर नहीं दूँगा। मैं इतिहास को यह कहने का मौक़ा नहीं दूँगा कि दुर्योधन इसलिए जीत गया क्योंकि उसने अपने लिए दुर्बल प्रतिद्वंद्वी का चुनाव किया। मैं भीमसेन से ही युद्ध करूँगा, चाहे यह मेरे जीवन का अंतिम युद्ध ही क्यों न हो!"

मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया था। युधिष्ठिर जानता था हठी पुरुष, अहंकारी भी होता है। उसने दुर्योधन के अहं पर सीधी चोट की थी और उसका वार बिलकुल सटीक बैठा

था। अपने कपटी मामा शकुनि की मदद से द्यूत में युधिष्ठिर का सबकुछ लूट लेने वाले दुर्योधन ने अपने अहं के चलते अपने जीवन को ही दाँव पर लगा दिया था। मैं जानता था कि वह गदायुद्ध में भीम से जीत नहीं पाएगा।

कुछ ही देर में दुर्योधन और भीम, अपने-अपने कवच पहन और गदा लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गए। दोनों के बीच युद्ध आरंभ हो गया। दोनों की गदाएँ यमदंड और वज्र के समान भयंकर थीं। भीम बीच-बीच में अपनी गदा को विशेष ढंग से घुमाता था तो उसकी आवाज़ एक मुहूर्त तक हवा में गूँजती थी जिसे सुनकर दुर्योधन विस्मित हो जाता था। दुर्योधन भी अपने पैंतरे बदलकर भीमसेन को अचरज में डाल देता था। दोनों की गदाएँ जब टकरातीं, तो चिंगारियाँ फूट पड़ती थीं और उनकी आवाज़ से आस-पास के वृक्षों पर बैठे पक्षी अपने नीड़ छोड़कर उड़ जाते थे। दो योद्धाओं के बीच ऐसा भयानक गदा-युद्ध शायद ही कभी लड़ा गया हो।

बहुत समय तक लड़ते हुए भीम और दुर्योधन के तन लहुलुहान हो गए। ऐसा लग रहा था, यदि वह युद्ध रोका न गया तो वह अनंत काल तक चलता रहेगा और एक-दूसरे के रक्त के प्यासे दोनों महारथी इसी प्रकार लड़ते रहेंगे। तभी मेरी दृष्टि कृष्ण की ओर गई जो अपने हाथ से भीम को कुछ संकेत कर रहे रहे थे। इधर श्रीकृष्ण ने अपना बायाँ हाथ अपनी बाईं जाँघ पर थपथपाया और उधर भीमसेन ने पूरी शक्ति से अपनी गदा दुर्योधन की बाईं जाँघ पर दे मारी। निश्चित रूप से दुर्योधन की जाँघ टूट गई थी। वह लड़खड़ाते हुए चिल्लाया, “भीम! तुम्हें धिक्कार है! बलराम जी का शिष्य होकर तुमने गदा-युद्ध के नियमों को तोड़ा है! क्या तुम्हें यह नहीं पता कि गदा-युद्ध में नाभि के नीचे प्रहार करना वर्जित है?”

भीम ने कृष्ण की ओर देखा, परंतु कृष्ण ने मानो दुर्योधन की बात सुनी ही नहीं! इस बार कृष्ण ने वही संकेत अपने दाएँ हाथ से दाईं जाँघ पर किया। इससे पहले कि दुर्योधन सँभल पाता, भीम ने गदा के ज़ोरदार प्रहार से उसकी दाईं जाँघ भी तोड़ डाली। दुर्योधन बुरी तरह कराहता हुआ धरती पर गिर पड़ा। उसके हाथ से गदा छूट गई और वह दोनों हाथों से अपनी जाँघें पकड़कर बुरी तरह रोने लगा। मैंने पहली बार दुर्योधन को इस तरह रोते देखा था। वह अत्यंत दर्दनाक दृश्य था। भीम और कृष्ण एक-दूसरे को देखकर मुस्करा रहे थे। दुर्योधन की दोनों जाँघें टूट चुकी थीं। उसका शरीर इतना लहूलुहान हो गया था कि उसका जीवित बच पाना असंभव था। उसे देखकर पांडव हँसते हुए वहाँ से चले गए। उन्हें हम तीन लोगों से युद्ध करने में कोई रुचि नहीं थी क्योंकि कौरवों का विनाश हो गया था तथा पांडवों का कृपाचार्य, मुझसे और कृतवर्मा से कोई व्यक्तिगत वैर नहीं था। हमने भी पांडवों को रोकने अथवा उनसे लड़ने का प्रयास नहीं किया क्योंकि हमारे लिए उस समय दुर्योधन को सँभालना अधिक महत्त्वपूर्ण था।

मैंने और कृपाचार्य ने दुर्योधन को शिविर में ले जाना चाहा, किंतु उसने मना कर दिया। वह बोला, “मैं एक योद्धा हूँ और मैं योद्धा की भांति रणभूमि में प्राण त्यागकर अपनी कीर्ति को कलंकित होने से बचा सकूँगा। अश्वत्थामा, मुझे ख़ुशी है कि तुम अभी जीवित हो। तुम

अवश्य सबको बताना कि दुर्योधन युद्ध में पीठ दिखाकर नहीं भागा और न ही उसने किसी दुर्बल से युद्ध करना स्वीकार किया। तुम यह भी कहना कि भीमसेन ने नियमों के विरुद्ध प्रहार करके दुर्योधन को मारा है। मेरे साथ छल हुआ है अश्वत्थामा! मेरे साथ छल हुआ है!" यह कहकर दुर्योधन सिसकने लगा। उसका चेहरा मिट्टी से सना हुआ था। ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी, समरभूमि में धूल-धूसरित, अकेला, घायल और असहाय पड़ा प्राण त्याग रहा था।

अंतिम श्वास लेने से पूर्व दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहकर जल का कलश मँगवाया और अपने सामने जल से मेरा अभिषेक कर मुझे कौरव सेना का अगला सेनापति नियुक्त कर दिया।

सेनापति! किसका सेनापति? अब सेना ही कहाँ शेष थी? काल की गति सचमुच बहुत सूक्ष्म है!

मुझे अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर भी उतना दुख नहीं हुआ जितनी दुर्योधन की दशा देखकर पीड़ा महसूस हो रही थी। मैं सचमुच क्रोध से भरा हुआ था। इसका एक कारण यह था कि मैं अब कौरवों का सेनापति था! दुर्योधन ने अपने अंत समय में जो विश्वास मुझ पर किया, मुझे उसकी रक्षा करनी थी। मेरे लिए युद्ध अभी शेष था!

दुर्योधन को रणभूमि में तड़पता छोड़कर आगे बढ़ने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। हम तीनों - मैं, कृपाचार्य और कृतवर्मा रणभूमि से काफ़ी दूर निकल आए। आगे चलकर, तरह-तरह के वृक्ष व लताओं से भरा एक वन था। हमने चारों ओर दृष्टि घुमाई तो एक विशाल वटवृक्ष दिखाई दिया। संध्या हो चुकी थी और अँधकार हो चला था। हमने रात वहीं बिताने का निश्चय किया।

अत्यधिक थकान के कारण कृपाचार्य और कृतवर्मा को नींद आ गई। मैं भी सोना चाहता था किंतु मेरा मन रोष व क्रोध से भरा हुआ था। मैं बहुत देर तक वटवृक्ष के पत्तों के बीच से टिमटिमाते तारों को देखता रहा। सहसा मेरी दृष्टि एक भयंकर उल्लू पर पड़ी, जो कहीं से अचानक उड़ता हुआ आया और उसने वृक्ष पर घोंसलों में सो रहे कौओं को नोचना-मारना शुरू कर दिया। उस एक उल्लू ने, देखते ही देखते, अनेक सोते हुए कौवों को मार डाला और फिर वहाँ से उड़ गया। उल्लू का ऐसा कपटपूर्ण व्यवहार देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। अचानक मुझे लगा कि वह उल्लू मुझे कुछ संदेश देने आया था। रात्रि में सोते हुए शत्रु पर वार करके उसे मार डालने का संदेश!

मेरे दिमाग़ में तुरंत यही विचार आया कि विजयोल्लास में चूर, पांचाल भी कौवों की तरह अपने शिविर में सो रहे होंगे। उन्हें मारने का यही उपयुक्त समय है। उस उल्लू की भांति क्यों न मैं भी रात में शिविर में घुसकर सोते हुए पांचालों को यमलोक पहुँचा दूँ? मेरा मन प्रतिशोध की अग्नि से इतना संतप्त था कि धर्म और अधर्म के बीच का भेद मेरे लिए समाप्त हो गया। मैंने बहुत सोच-विचार करके मामा कृपाचार्य को जगाया।

“मामाजी उठिए!” मैंने कृपाचार्य से कहा, “मेरा मन बहुत बेचैन है और मुझे नींद नहीं आ रही है।”

“क्या हुआ, अश्वत्थ?” कृपाचार्य ने घबराकर पूछा। “क्या तुम्हें किसी जंगली पशु की आवाज़ आ रही है?”

“नहीं मामाजी!” मैंने कहा, “एक पशु तो क्या, इस समय जंगल के सभी पशु भी यहाँ आ जाएँ तो मैं उनके लिए अकेला ही पर्याप्त हूँ। मैंने आपको किसी और कारण से जगाया है।”

“क्या बात है? तुम इतने परेशान क्यों हो?”

इसके बाद मैंने कृपाचार्य को उल्लू और कौवों वाली घटना बताई और यह भी बताया कि उससे प्रेरणा लेकर किस तरह मेरे मन में सोते हुए शत्रुओं को मार डालने का विचार आया था।

मेरी बात सुनकर कृपाचार्य स्तब्ध रह गए। ऐसा नहीं था कि वह शत्रु का हित चाहते थे, किंतु शायद वे किसी सोते हुए प्राणी को मारने के पक्ष में नहीं थे।

वे मुझे स्नेहपूर्वक समझाने लगे, “प्रिय अश्वत्थामा, मैं तुम्हारा दुख समझता हूँ। जिस तरह पांडवों ने छल से तुम्हारे पिता को और फिर दुर्योधन को मारा है, वह निश्चय ही धर्म-विरुद्ध और निंदनीय है। इसके बाद भी, मेरी बात मानो और अपने मन को क़ाबू में रखो। ऐसा कोई कार्य मत करो जिसके कारण तुम्हें बाद में पश्चाताप करना पड़े। शास्त्र कहते हैं कि जो सोया हुआ हो, जिसने शस्त्र रख दिए हों, रथ और घोड़े खोल दिए हों, जो शरणागत हो, जिसके बाल खुले हुए हों और जिसका वाहन नष्ट हो गया हो, उसका वध करना धर्म द्वारा अच्छा नहीं माना जाता। इस समय रात्रि में सभी वीर निश्चिंत होकर कवच उतारकर गहरी निद्रा में होंगे। ऐसी स्थिति में उनके ऊपर वार करना अथवा उनका वध करना नरक में गिरने जैसा है।”

“किंतु मैं प्रतिशोध की अग्नि में जल रहा हूँ।”

“मैं जानता हूँ, अश्वत्थामा! एक और बात है जो तुम्हारे लिए जानना बहुत ज़रूरी है।”

“क्या मामाजी?” मैंने उत्सुकता से पूछा।

“तुमने इतना लंबा समय दुर्योधन के साथ बिताया है, छोटे-बड़े अनेक संग्रामों में उसके पक्ष में युद्ध किया है और इस भीषण महायुद्ध में भी तुम दुर्योधन की ओर से लड़े हो। इसके बावजूद तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि संसार का कोई व्यक्ति तुम्हारे ऊपर किसी तरह के नीच आचरण का दोष नहीं लगा सकता। वह चाहे द्रौपदी का चीर-हरण हो या फिर द्यूत का कपटपूर्ण खेल, तुम तटस्थ बने रहे। परंतु तुमने दुर्योधन के अधर्मी कार्यों में कभी मुखर रूप से उसका समर्थन नहीं किया। तुम सूर्य के समान तेजस्वी हो और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ

माने जाते हो। मैं नहीं चाहता कि तुम उन्मादवश कोई ऐसा कार्य कर बैठो, जिससे तुम्हारी कीर्ति कलंकित हो जाए। इसलिए मेरी सलाह मानो और अपने मन से इस पापपूर्ण विचार को त्याग दो। कल सुबह सूर्योदय के साथ एक सच्चे योद्धा की भांति रणभूमि में उतरो और अपने शत्रुओं से युद्ध करो। मैं तुम्हारे निष्कलंक आचरण तथा दोषरहित चरित्र का साक्षी हूँ और आजीवन रहूँगा!"

कृपाचार्य मेरे मामा थे किंतु उन्होंने मेरी प्रशंसा में इतना कुछ, पहली बार कहा था। उनकी बातें सुनकर मैं एक पल के लिए भाव-विह्वल हो गया और मुझे सचमुच लगा कि सोते हुए शत्रुओं को मारना उचित नहीं होगा। परंतु उस महायुद्ध के नृशंस नरसंहार ने मुझे क्रूर और निष्ठुर बना दिया था।

मैंने कुछ देर विचारने के बाद कहा, "मामाजी! आप जो कुछ कह रहे हैं वह निस्संदेह ठीक है परंतु आप जिस धर्म और मर्यादा के पालन की बात कर रहे हैं, उसे तो पहले ही पांडवों ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। भीष्म पितामह को अर्जुन ने शिखंडी की ओट लेकर मारा। धृष्टद्युम्न ने सबके सामने मेरे शस्त्रहीन पिता का वध कर दिया। इसी तरह असहाय अवस्था में महारथी कर्ण को भी अर्जुन ने मार डाला। यही नहीं, राजकुमार दुर्योधन जैसे वीर योद्धा को भीम में गदा-युद्ध के नियमों की अनदेखी कर अधर्मपूर्वक मार गिराया। हमारे अधिकतर योद्धा इसी प्रकार पांडवों के हाथों छलपूर्वक मारे गए। मैं अपने मित्रों एवं संबंधियों के कपटपूर्ण वध को इतनी सरलता से कैसे भुला दूँ? इसलिए अब मुझे भले ही अगले जन्म में कीट-पतंगों की योनि मिले अथवा मुझे अपने कर्मों का कुछ भी प्रायश्चित करना पड़े, किंतु मैंने यह निर्णय ले लिया है कि मैं अपने पिता के हत्यारों को रात में सोते समय ही मारूँगा। मैं अपने प्रतिशोध के लिए अब और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। ऐसे में, आप ही बताइए कि मुझे नींद कैसे आ सकती है? मामाजी, मैं यह प्रण करता हूँ कि आज की रात मेरे शत्रुओं की अंतिम रात होगी!"

जीवन-मरण और हानि-लाभ की तरह यश और अपयश भी विधि के हाथ होता है। जिस तरह अंत समय निकट आने पर व्यक्ति काल का ग्रास बनने के लिए स्वयं चलकर काल के मुँह तक पहुँच जाता है, उसी तरह जब अपयश मिलने का समय आता है तो मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उसे अपने शुभचिंतक भी विरोधी नज़र आने लगते हैं। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मुझे अपने मामा का सुझाव उचित तो लगा, किंतु मेरे प्रारब्ध ने मुझे उस सदाचारी सुझाव का पालन नहीं करने दिया।

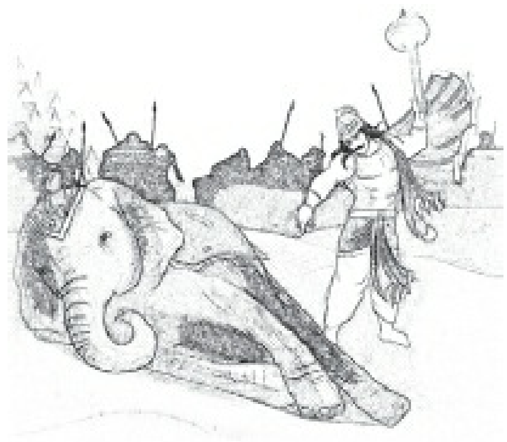

26

मेरे धैर्य ने मेरा साथ छोड़ दिया था। मैंने आधी रात में ही अपने अस्त्र-शस्त्र सँभाले और घोड़ों को जोतकर पांडवों के शिविर की ओर चल पड़ा। मैंने तो यही सोचा था कि मुझे किसी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ेगा और उस उल्लू की भांति, मैं सहसा शत्रु के आवास में घुसकर विध्वंस मचा दूँगा। परंतु ऐसा नहीं हुआ।

मैंने पांडवों के शिविर तक पहुँचकर देखा कि उनके शिविर के द्वार पर सूर्य के समान एक तेजस्वी और विशालकाय पुरुष खड़ा था। उसे देखने से ही शरीर में रोमांच हो रहा था। उसने अपने तन के निचले भाग पर व्याघ्रचर्म लपेटा हुआ था और ऊपर वाले पर मृगचर्म ओढ़ रखा था। उसने गले में सर्पों का यज्ञोपवीत पहन रखा था। उसकी विशाल भुजाओं में तरह-तरह के शस्त्र सुशोभित हो रहे थे और बाजूबंद के स्थान पर बड़े-बड़े साँप बंधे थे। बीच-बीच में न केवल उसके मुख से, बल्कि कान, नाक और आँखों में से भी ज्वाला निकलती थीं। उसका रूप इतना भयावह था कि किसी सामान्य व्यक्ति के लिए तो उसे देख पाना ही कठिन था। मैं कुछ दूरी से उसे देखता रहा। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि पांडव शिविर के बाहर इतना भयावह और विकट द्वारपाल कौन था, जिसे मैंने युद्ध के दौरान पहले कभी

नहीं देखा था।

मैं जिस प्रयोजन से वहाँ गया था, उसे पूर्ण करना ही मेरा एकमात्र उद्देश्य था। मुझे उस पुरुष का रूप देखकर थोड़ी बेचैनी तो अवश्य हुई, किंतु मैं घबराया नहीं था। मेरा लक्ष्य शिविर के अंदर प्रवेश करना था किंतु उस द्वारपाल के रहते यह संभव नहीं था। स्पष्ट था कि मेरे लिए उस पुरुष से युद्ध करना आवश्यक था। मैं सहसा उसके सामने जा खड़ा हुआ और उसके ऊपर अस्त्रों की वर्षा करने लगा। मुझे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ कि वह पुरुष मेरे सभी शस्त्रों को निगल गया! मैंने जीवन में अनेक योद्धा देखे थे। कुछ ऐसे भी थे जिनसे टकराकर अस्त्र-शस्त्र घास के तिनकों की भांति बिखर जाते थे, किंतु ऐसा पुरुष पहली बार देखा था जो शस्त्रों को ही निगल जाए!

मेरे पास अस्त्र-शस्त्रों का कोई अभाव नहीं था। मैं द्वारपाल पर बाण चलाता गया परंतु वह उन सबको एक-एक करके लील गया। कुछ ही देर में मैं शस्त्रविहीन हो गया था। वह मुझे देखकर मुस्कराने लगा। निश्चित ही उसे एक योद्धा को अपने समक्ष शस्त्रविहीन अवस्था में असहाय खड़ा देखकर आनंद आ रहा था। मेरा जीवन अब पूरी तरह उसकी कृपा पर निर्भर था। मुझे लगा कि मेरा अंत समय आ गया है। स्वयं को ऐसी असहाय स्थिति में देखकर मुझे अपने ऊपर खीज भी आ रहा था। काश, मामा कृपाचार्य की बात मान ली होती और इस तरह आवेश में वहाँ न आया होता तो मुझे इस विकट पुरुष के हाथों अपनी जान न गँवानी पड़ती! निश्चय ही, मेरी बुद्धि अधर्म से कलुषित हो गई थी जिसके कारण मुझे यह कष्ट भोगना पड़ रहा था। मेरे पास अब अपने आराध्य भगवान शिव की उपासना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था।

मैंने महादेव की स्तुति आरंभ कर दी। मैंने स्तुति के उपरांत मन में संकल्प किया कि यदि मैं इस दुस्तर विपत्ति से पार हो गया तो अपने शरीर की बलि देकर भगवान शंकर का यजन करूँगा! मैंने ज्यों ही अपने मन में यह दृढ़ संकल्प धारण किया, सहसा मेरे सामने एक सुवर्णमयी वेदी प्रकट हुई और उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगी। उसमें से बहुत-से गण प्रकट हो गए, जिनके अनेक सिर और पैर थे और उनमें चंद्रमा और सूर्य के समान तेज था। ऐसा लगा मानो उनमें जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज - चारों प्रकार के प्राणियों को नष्ट करने का सामर्थ्य था। बचपन से ही मेरे अंदर यह गुण था कि कितनी भी विकट समस्या या परिस्थिति हो, मुझे उसमें डर नहीं लगता था। उन भूत समान गणों को देखकर मैं तनिक भी भयभीत नहीं हुआ।

मुझे लगने लगा कि मैं जिस पाप कर्म को करने वहाँ गया था, उसे करने में विफल हो चुका था और अब मुझे उस वेदी में अपनी बलि देनी थी। मैंने इसे भी दैव का विधान मानकर स्वीकार किया और अपने धनुष को समिधा, बाणों को दर्भ तथा अपने शरीर को हवि बनाया।

अंत में, मैंने सोम देवता का मंत्र पढ़ा और पवित्र अग्नि में अपनी आहुति देने से पहले

भगवान रुद्र की स्तुति करते हुए कहा, "आप समस्त भूतों में स्थित हैं, आप ही समस्त भूतों के आश्रय हैं। यदि आज मैं अपने शत्रुओं को परास्त नहीं कर सकता तो आप हविष्य रूप से अर्पण किए हुए मेरे इस शरीर को स्वीकार कीजिए!" ऐसा कहकर मैं उस वेदी पर चढ़ गया और अपने प्राणों का मोह छोड़कर आग के बीच आसन लगाकर बैठ गया।

उसी समय, भगवान शंकर प्रकट हुए और मुस्कराते हुए बोले, "अश्वत्थामा! चक्रधारी श्रीकृष्ण ने सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तपस्या, नियम, क्षमा, भक्ति, धैर्य, बुद्धि और वाणी से मेरी आराधना की है। इसलिए उनसे बढ़कर मुझे कोई प्रिय नहीं है और यही कारण है कि मैं श्रीकृष्ण के सम्मान स्वरूप यहाँ द्वारपाल का रूप बनाकर पांचालों की रक्षा हेतु खड़ा था। परंतु कालवश अब ये निस्तेज हो चुके हैं तथा इनका जीवन पूर्ण हो चुका है। मैं तुम्हारे साहस और त्याग से प्रसन्न हूँ अश्वत्थामा! समय आ गया है कि तुम अपने संकल्प को पूर्ण करो!" यह कहकर भगवान शंकर ने मेरे हाथ में एक चमचमाती तलवार थमा दी। मैं उस तलवार को अपने हाथ में लेकर अभी देख ही रहा था कि मेरे शरीर में एक तीव्र उत्तेजना हुई।

मैं पूर्ण विश्वास से तो नहीं कह सकता किंतु मुझे ऐसा लगा कि स्वयं भगवान शंकर मेरे शरीर में लीन हो गए जिसके कारण युद्ध से शिथिल एवं निस्तेज, मेरा शरीर फिर से ऊर्जान्वित हो गया और मेरे ओज में कई गुना वृद्धि हो गई।

भगवान शंकर की शक्ति को अपने भीतर महसूस करने के बाद मेरे उत्साह में भी कई गुना वृद्धि हो गई थी। मुझे पता था कि पांडव उस शिविर में न होकर किसी अलग शिविर में थे। मैं बिना समय गँवाए पहले पांचालों के शिविर में घुस गया। मैंने उस रात उल्लू से प्रेरित होकर समस्त वंश को मौत के घाट उतारने का प्रण किया हुआ था, किंतु मेरी दृष्टि सबसे पहले धृष्टद्युम्न को खोज रही थी। मेरे पिता का हत्यारा धृष्टद्युम्न! मुझे उसका तंबू खोजने में अधिक समय नहीं लगा। वह काल की पदचाप से बेख़बर अपने रेशमी बिस्तर पर सो रहा था। मैंने आज तक लात मारकर किसी का अपमान नहीं किया, लेकिन अपने पिता के हत्यारे को इतनी निश्चिंतता से सोते देख मेरे क्रोध की सीमा न रही। मैंने उसे इतनी ज़ोर से ठोकर मारी कि वह अपनी शय्या से नीचे लुढ़क गया। नीचे गिरने से उसकी निद्रा टूट गई और वह घबराकर उठ बैठा। वह उठकर खड़ा हो गया किंतु उसके सँभलने से पूर्व, मैंने उसे बालों से पकड़ लिया और घसीटकर धरती पर गिरा दिया। उसके बाद मैं उसकी छाती पर चढ़ बैठा और अपने घुटने से उसकी गर्दन दबा दी। मैंने धृष्टद्युम्न को हाथों और पैरों से बुरी तरह मारा। वह छटपटा रहा था।

"मुझे इस तरह मत पीटो, मुझे शीघ्र ही मार डालो अश्वत्थामा!" धृष्टद्युम्न ने छटपटाते हुए कहा।

"धृष्टद्युम्न!" मैं बहुत ग़ुस्से में था। "तू अपने कुल का कलंक है। तूने अपने शस्त्रविहीन गुरु को मारने का जघन्य अपराध किया है। मैं तुझे किसी शस्त्र से मारकर योद्धा का पुण्य अर्जित नहीं करने दूँगा। तेरे द्वारा किए गए पाप के लिए मैं तुझे आज ऐसे ही मारूँगा।"

इतना कहकर मैंने धृष्टद्युम्न के मर्मस्थल पर ज़ोरदार प्रहार किया। उसके मुख से दर्दभरी एक अंतिम चीख़ निकली और उसने दम तोड़ दिया। मेरी आँखों के सामने अब भी अपने पिता का कटा हुआ सिर घूम रहा था। मेरा क्रोध कम होने के बजाय बढ़ता जा रहा था। मैंने धृष्टद्युम्न के मृत शरीर को भी पैरों से ठोकर मारी। मुझे लगता है यदि मेरे पास उस दिन थोड़ा समय होता तो मैंने धृष्टद्युम्न के तन को क्षत-विक्षत कर दिया होता! यह शायद भगवान शंकर की शक्ति ही प्रभाव था कि केवल मेरे हाथों व पैरों के ही प्रहार से धृष्टद्युम्न जैसे महाबली योद्धा के प्राण-पखेरू उड़ गए!

अपने लक्ष्य की इस प्रथम सफलता ने मुझमें हिम्मत और उत्साह का ज़बरदस्त संचार कर दिया। उसके बाद मैंने उत्तमौजा और उसके भाई युधामन्यु का भी वही हाल किया। मेरे सिर पर इस तरह ख़ून सवार था कि मेरे लिए रक्त और पानी में अंतर शेष नहीं था। मेरे सामने जो भी आया मैंने उसे यमलोक पहुँचने में क्षण भर की भी देर नहीं की। उस दिन मेरे भीतर भगवान शंकर की दैवी शक्ति और प्रतिशोध की ज्वाला का ऐसा समावेश हुआ था कि मैंने देखते ही देखते शत्रु के शिविर में शवों का ढेर लगा दिया। चारों तरफ़ शोर और कोलाहल मच गया। ऐसे में स्वाभाविक था कि सब लोग नींद से उठ गए थे।

मैं ज्यों ही थोड़ा आगे बढ़ा, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने मुझे घेर लिया। मेरे सामने वही दृश्य फिर उभर आया जब उस अकेले उल्लू ने पेड़ पर सोते हुए बहुत-से कौवों को अचानक दबोचकर मार डाला था। मुझे द्रौपदी के पुत्र भी उन कौवों जैसे दिखाई देने लगे।

मैंने अपनी दिव्य तलवार सँभाली और पूरे वेग से उन पाँचों पर टूट पड़ा। गहरी नींद से सहसा जागने के कारण उनका शरीर आलस्य से भरा हुआ था और मस्तिष्क भी पूरी तरह सचेत नहीं था। मुझे इसी क्षण की प्रतीक्षा थी। मैंने सबसे पहले प्रतिविंध्य पर वार किया। वह बेचारा एक ही वार में धरती पर लेट गया। उसके बाद सुतसोम आगे आया तो मैंने तलवार से उसकी भुजा काट दी। वह छटपटाता हुआ धरती पर गिर गया। मैंने अगले ही क्षण अपनी तलवार उसके वक्ष में उतार दी। अपने दो भाइयों को इस तरह मरता देख शतानीक, श्रुतकर्मा और श्रुतकीर्ति ने एक साथ मुझ पर आक्रमण कर दिया। शतानीक ने पास पड़ा रथ का पहिया उठाकर मुझ पर फेंका। मैं उसके प्रहार के लिए तैयार नहीं था। वह पहिया मेरे दाहिने कंधे पर लगा, जिसके कारण मुझे भयंकर पीड़ा हुई और हाथ हिलाने में बहुत दर्द होने लगा।

मुझे घायल देखकर उन तीनों ने सोचा कि मुझे मारना सहज होगा। वे भूल गए थे कि जिसके पिता को रणभूमि में छल से असहाय स्थिति में मार दिया गया हो, जिसके हृदय में रक्त कम और प्रतिशोध की ज्वाला अधिक हो, उसे एक पहिए की मामूली चोट से रोक पाना संभव नहीं था। मुझे शतानीक, श्रुतकर्मा और श्रुतकीर्ति को मारने में कोई समय नहीं लगा। मेरे सामने गिरे पाँचों पांडव पुत्र ऐसे तड़प रहे थे जैसे बाज़ के पंजों में चिड़िया के बच्चे छटपटाते हैं। कुछ ही पल में पाँचों ढेर हो गए। आस-पास ज़मीन पर रक्त और मांस के लोथड़े बिखरे हुए थे। पांडव-पुत्रों के प्राणहीन शरीरों को देखकर, मेरी आँखों के सामने अपने पिता द्रोणाचार्य की मृत्यु का दृश्य उभर आया। एक पुत्र के समक्ष अपने वृद्ध पिता का

शव और एक पिता के समक्ष अपने युवा पुत्र का शव - ये दोनों समान लगते हुए भी समान परिस्थितियाँ कदापि नहीं हैं। इन दोनों में उतना ही अंतर है जितना दिन और रात में होता है!

पांडव-पुत्रों के रक्त से मेरे हृदय में कुछ ठंडक तो पड़ी थी लेकिन यह ऐसी थी मानो किसी धधकते हुए पात्र में जल के कुछ छींटे आ पड़े हों। वे गिरे और भाप बनकर तुरंत ही उड़ गए। मेरे मन की क्रोधाग्नि को शमन हेतु अभी और प्रतिशोध की आवश्यकता थी। पाँच निर्दोष बालकों को निर्ममता से मारकर भी मेरे मन में जल रही प्रतिशोध की अग्नि में कोई विशेष कमी नहीं आई थी।

मैं रथ पर सवार हुआ और हाथ में धनुष लेकर आगे बढ़ता गया। शिविर में जो भी सामने आया मैंने उसे तत्काल ही मार गिराया। निद्रा और भय से व्याकुल लोग यहाँ-वहाँ भाग रहे थे। चारों ओर धूल उड़ रही थी, जिससे शिविर में रात्रि का अंधकार दुगुना लग रहा था। मुझे इस बात का बिलकुल अनुमान नहीं था कि मैंने उन्माद के क्षणों में कितने निर्दोष बच्चों, स्त्रियों या सैनिकों का संहार कर डाला। मैं रक्तपात और नरसंहार करता हुआ बाहर आया तो मैंने देखा कि मामा कृपाचार्य और कृतवर्मा भी वहीं मौजूद थे और शिविर के अंदर से बाहर भागने वाले लोगों को बालों से पकड़कर मौत के घाट उतार रहे थे। मेरे भीतर का राक्षस इस संहार को देखकर अत्यंत हर्षित था। हमें विश्वास था कि अंधकार का फ़ायदा उठाकर कुछ लोग निश्चित रूप से शिविर के भीतर छिप गए होंगे। यह सोचकर कृतवर्मा ने शिविर में आग लगा दी। आग लगते ही शिविर में उजाला हो गया। शिविर के जलने से, जो लोग भीतर छिपे बैठे थे, वे बाहर भागने लगे। विनाश एवं मृत्यु का तांडव फिर आरंभ हो गया। मैंने किसी को तिल के पौधे के समान बीच से दो हिस्सों में काट गिराया तो किसी के सिर को धड़ से अलग कर दिया। किसी के पैरों पर वार किया तो किसी की पीठ में तलवार भोंक दी। किसी का मुख आहत कर दिया तो किसी के कान काट दिए और किसी का कंधा तोड़ दिया।

मैं अपने जीवन की वह भयानक व अंधेरी रात कभी नहीं भूल सकता। मैंने अकेले ही अनेक लोगों की हत्या कर दी थी। पौ फटने को थी। रक्त से सनी तलवार, मेरे हाथ से इस तरह चिपक गई मानो वह मेरे शरीर का अंग हो। मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। शिविर और उसके आस-पास की भूमि ख़ून से तर हो गई थी। उस रात वहाँ नर-रक्त का इतना छिड़काव हुआ कि कोलाहल के दौरान उड़ने वाली समस्त धूल दब गई थी। पांचालों के शवों से पटी भूमि देखकर मेरा मन अत्यंत प्रसन्न था। मैंने मन ही मन उस उल्लू का आभार व्यक्त किया, जिसने मेरी इस सफलता में परोक्ष रूप से गुरु की भूमिका निभाई थी।

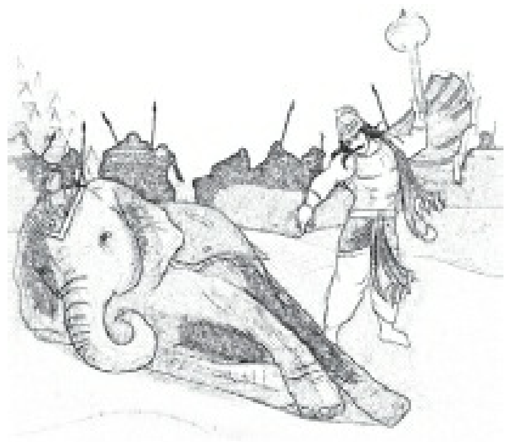

27

मुझे मन में सदा इस बात का संतोष एवं गर्व रहा कि मैंने दुर्योधन जैसे धूर्त व्यक्ति के साथ रहते हुए भी अपनी मानवता को कलुषित होने से बचाए रखा था, परंतु उस घोर नरसंहार के बाद जब मेरा प्रमाद शांत हुआ तो मेरा सामना अपने ही व्यक्तित्व के एक नए और विकृत रूप से हुआ।

मैं रक्तरंजित धरती पर खड़ा पांडवों के विषय में सोचने लगा। उन्होंने युद्ध लगभग जीत लिया था। परंतु क्या अपने पुत्रों को खोने के बाद वे इसे विजय कह सकते थे? क्या उनकी विजय अब उन्हें सचमुच हर्ष तथा उल्लास दे पाएगी, जिसे पाने के लिए वे लोग इस महासमर में उतरे थे? क्या अपने पारिवारिक विनाश के घाव को राज्य और वैभव के मरहम से भरा जा सकता था? मैं अपनी सफलता पर हर्षित था, किंतु मेरे मन में उठ रहे प्रश्न केवल पांडवों तक सीमित नहीं थे। मेरा हृदय मुझसे भी कुछ प्रश्न कर रहा था।

क्या मेरे अंतर में व्याप्त मानवता और मेरा सद्भाव, अमर्ष-जनित भीषण हिंसा की भेंट नहीं चढ़ गए थे? क्या मैं सोते हुए निर्दोष लोगों की हत्या के बाद स्वयं चैन से सो सकूँगा? उस उल्लू ने तो अपनी प्रकृति के अनुरूप शिकार किया था, किंतु क्या एक पक्षी से प्रेरणा

लेकर स्वयं हिंसक पशु जैसा आचरण करना उचित है? सहसा मेरा हृदय मुझे धिक्कारने लगा था। मैं मनुष्य से राक्षस हो गया था! मेरा हर्ष धीरे-धीरे विषाद में बदलने लगा।

अमानवीय कृत्य करने के उपरांत हृदय में विषाद की उत्पत्ति इस बात का सूचक है कि व्यक्ति में मानवता का कुछ अंश अभी सुरक्षित है। मुझे ख़ुशी थी कि मैं पूरी तरह अमानव नहीं हो गया था। अपने मन में ग्लानि का भाव लिए, मैं उस कुकर्म के साथ उसके रेचन एवं समाधान के उद्देश्य से गंगा के तट पर व्यासजी के पास जा पहुँचा। मैं उनके पास इस आशा के साथ गया था कि मेरे दुष्कर्म को युद्ध का ही अंश माना जाएगा और जिस तरह युद्ध में योद्धाओं द्वारा हज़ारों सैनिकों को मारना सामान्य एवं क्षम्य समझा जाता है, उसी तरह मेरे इस कृत्य को भी देखा जाएगा।

क्या सचमुच रणभूमि में सैनिकों को मारना और सोते हुए अबोध बालकों व महिलाओं की हत्या करना एक समान है? क्या युद्ध के समय कर्त्तव्यवश किया गया रक्तपात और अमर्ष के कारण किसी की हत्या को समान भाव से देखा जा सकता है? मेरे भीतर उठ रहे ये प्रश्न मेरे अंतर को मथ रहे थे और उस मंथन से जो ग्लानि का गरल निकल रहा था, उसने मेरे तन और मन को नहीं, अपितु मेरी आत्मा को भी विषाक्त कर दिया था। अभी मेरा हृदय इस ऊहापोह से जूझ ही रहा था कि मैंने पाँचों पांडव को सिंहनाद करते हुए अपनी ओर आते देखा। निश्चित रूप से, उन्हें मेरे जघन्य कृत्य का पता चल गया था। सबसे आगे भीमसेन अपने भारी-भरकम पैरों को पटकता हुआ मेरी ओर दौड़ा आ रहा था। उसके पैरों की धमक से आस-पास के वृक्ष काँप रहे थे। उसके पीछे-पीछे हाथ में गांडीव धारण किए अर्जुन, चक्र हाथ में किए श्रीकृष्ण और उनके साथ युधिष्ठिर, नकुल व सहदेव भी थे। मेरे पास सोचने के लिए न समय शेष था और न ही बुद्धि! अपनी मृत्यु को सामने देख मेरी शिराओं में बह रहा रक्त मानो जमने लगा था। मेरा सिर भारी होने लगा। क्या मेरे पास अब भी कोई मार्ग शेष था?

श्रीकृष्ण के हाथ में सहस्र अरों तथा वज्र की नाभि वाला दिव्य चक्र देखकर मुझे वह घटना याद आ गई जब मैं अपने द्वारका में प्रवास काल के दौरान श्रीकृष्ण से उनका वह दिव्य चक्र माँगने जा पहुँचा था। मुझे सहसा याद आ गया कि मैंने श्रीकृष्ण को सुदर्शन चक्र के बदले उन्हें अपना ब्रह्मास्त्र देने की बात कही थी।

"ब्रह्मास्त्र!" यह शब्द ध्यान में आते ही ऐसा लगा मानो मरुस्थल में प्यास से मर रहे व्यक्ति को पानी मिल गया हो! मैंने ज्यों ही ब्रह्मास्त्र का चिंतन किया, वह मेरे दाहिने हाथ में प्रकट हो गया। उसके प्रयोग के लिए आवश्यक मंत्र का उच्चारण करते ही उसकी नोक से अग्नि उत्पन्न हो गई और पलक मारते ही उसने प्रचंड ज्वाला का रूप ले लिया। मैंने उसे हाथ में लेकर पांडवों की ओर देखा। वे ठिठककर अपने स्थान पर रुक गए। मैंने महसूस किया कि मेरे भीतर सहज जाग्रत हुई ग्लानि की आँच मंद पड़ने लगी थी और पांचाल शिविर में नरसंहार कर चुका राक्षस फिर से अपना सिर उठाए विध्वंस करने को तत्पर था।

शत्रु निकट था, किंतु मृत्यु उससे भी निकट थी। ब्रह्मास्त्र हाथ में था। अब इस क्षण में उस प्रलयकारी अस्त्र के प्रयोग के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं था। मेरे पिता द्रोण ने मुझे उसे प्रयोग न करने की कड़ी चेतावनी दी थी। मैंने मन में अपने पिता से क्षमा माँगी और यह कहा कि 'पृथ्वी पांडव-विहीन हो जाए!' यह भीषण संकल्प लेते ही ब्रह्मास्त्र के अग्र भाग ने और प्रचंड रूप धारण कर लिया। मैंने बिना कुछ अधिक सोचे-विचारे उस विनाशकारी अस्त्र को पांडवों की ओर छोड़ दिया।

श्रीकृष्ण ने ब्रह्मास्त्र को देखा तो चिंतित होकर अर्जुन से बोले, "अर्जुन! इस दुष्ट अश्वत्थामा ने आख़िर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर ही दिया। आचार्य द्रोण का दिया यह ब्रह्मास्त्र तुम्हारे हृदय में भी विद्यमान है। अब उसके प्रयोग का समय आ गया है क्योंकि ब्रह्मास्त्र को ब्रह्मास्त्र द्वारा ही रोका जा सकता है। तुम शीघ्र ही उसका स्मरण करो और पांडवों की मंगलकामना के साथ उसे छोड़ दो!"

अर्जुन ने आँखें बंद कीं और ब्रह्मास्त्र का स्मरण किया। अगले ही पल उसके भी हाथ में ठीक वैसा ही ब्रह्मास्त्र प्रकट हो गया। अर्जुन ने उसे ऊर्जान्वित करने हेतु मंत्र पढ़ा और 'पांडवों का मंगल हो!' कहकर उसने भी अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। हम दोनों के ब्रह्मास्त्र हवा में टकरा गए और उनसे भीषण गर्जना हुई। हज़ारों उल्काएँ गिरने लगीं। सर्वत्र अग्नि की लपटें उठने लगीं, जिनसे संतप्त होकर प्राणी इधर-उधर भागने लगे। आचार्य द्रोण ने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि किसी दिन उनका पुत्र और उनका शिष्य इस तरह आमने-सामने आ जाएँगे और उनके आदेशानुसार वर्जित अस्त्र का दुरुपयोग किया जाएगा! ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से उत्पन्न ज्वाला तीनों लोकों को जलाने लगी।

तभी देवर्षि नारद तथा महर्षि व्यास आकाश में प्रकट हुए और उन्होंने कहा, "पूर्वकाल में भयंकर अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता हुए हैं, किंतु आज तक किसी ने इन अस्त्रों का प्रयोग मनुष्यों पर नहीं किया। फिर तुम दोनों वीरों ने यह अनिष्टकारी दुस्साहस क्यों किया है? तुम्हारी इस मूर्खता से पृथ्वी के अतिरिक्त समस्त लोकों में भीषण हाहाकार मचा हुआ है। यह हमारा आदेश है कि तुम दोनों तुरंत अपने-अपने अस्त्रों को लौटाओ और अपने निजी संघर्ष में विश्व के अन्य प्राणियों की आहुति मत दो!"

नारदजी एवं व्यासजी का यह आदेश सुनते ही अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु! मैंने तो अपना ब्रह्मास्त्र विवश होकर चलाया था ताकि इससे अश्वत्थामा द्वारा चलाया ब्रह्मास्त्र शांत हो जाए। तथापि आपकी आज्ञानुसार मैं अपने अस्त्र को वापस लेता हूँ। परंतु आप अश्वत्थामा को कहिए कि वह भी अपना अस्त्र वापस ले अन्यथा, हम लोगों का विनाश निश्चित है।" यह कहकर अर्जुन ने मंत्र पढ़ा और उसका ब्रह्मास्त्र उसके पास वापस चला गया।

मेरा द्वारा चलाया गया ब्रह्मास्त्र आकाश में ही घूमता रहा और पृथ्वी की स्थिति गंभीर होती चली गई। नारद और व्यासजी ने मेरी ओर देखा। स्पष्ट था कि उन्हें मुझसे भी अब वही

अपेक्षा थी। मैंने मंत्र पढ़ा किंतु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। ब्रह्मास्त्र द्वारा चल रही विनाश लीला ज्यों की त्यों जारी रही।

सब लोग विस्मित थे कि मंत्रोच्चारण के बाद भी ब्रह्मास्त्र लौटकर क्यों नहीं आया। इसका कारण यह था कि ब्रह्मास्त्र को लौटाने के लिए केवल मंत्र का ज्ञान होना पर्याप्त नहीं था, अपितु उस दिव्य अस्त्र के धारक का संयमी और सदाचारी होना भी एक अनिवार्य शर्त थी। मैंने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग प्रमादवश किया था तथा उसके प्रयोग से मानव जाति की क्षति की उपेक्षा कर दी थी, जिससे मेरा संयम व सदाचार ध्वस्त हो चुका था। इसलिए प्रयास करने के बाद भी मैं अपना ब्रह्मास्त्र वापस नहीं ले पाया था। अर्जुन अत्यंत व्रती और संयमी था तथा उसने अपना ब्रह्मास्त्र सचमुच मेरे अस्त्र को शांत करने के लिए ही चलाया था, इसलिए वह अपना अस्त्र लौटाने में सफल हो गया।

मेरे प्रमाद के कारण सर्वत्र होने वाली क्षति को देखकर वहाँ उपस्थित सब लोग मुझे घृणा की दृष्टि से देख रहे थे। मैं लज्जा से धरती में गड़ा जा रहा था। यह निश्चित था कि ब्रह्मास्त्र को वापस लौटाने का अब कोई तरीक़ा नहीं था, परंतु उसे यूँ ही आकाश में घूमने देना पृथ्वी के सर्वनाश को आमंत्रित करने के समान था।

मैंने कुछ सोचकर व्यासजी से कहा, “मैं मानता हूँ कि मुझसे प्रमाद और भीषण क्रोध के कारण यह अपराध हो गया है। मैं यह भी मानता हूँ कि मुझे इसके लिए उचित दंड मिलना चाहिए। परंतु अब मुझसे अपराध तो हो गया है और इस अस्त्र को लौटा पाना भी संभव नहीं, इसलिए जिस उद्देश्य से मैंने यह अस्त्र चलाया था, मैं उसे आंशिक रूप से अवश्य पूर्ण करूँगा! मैंने यह ब्रह्मास्त्र पांडवों के विनाश के लिए चलाया था, परंतु मैं अब इसे अर्जुन की पुत्र-वधू और अभिमन्यु की पत्नी, उत्तरा के गर्भ पर छोड़ रहा हूँ!”

“नहीं!” अर्जुन चिल्लाया, “नहीं! अश्वत्थामा तुम ऐसा नहीं कर सकते! इस युद्ध में पहले ही अनेक निर्दोष बालकों और स्त्रियों की हत्या हो चुकी है। तुम्हें किसी गर्भस्थ शिशु पर ब्रह्मास्त्र जैसा घातक अस्त्र चलाने का कोई अधिकार नहीं है।”

“अर्जुन तुम कहते तो ठीक हो,” मैंने उत्तर दिया, “किंतु मैं कैसे भूल जाऊँ कि उत्तरा के गर्भ में तुम्हारा ही वंशज है? मैंने ब्रह्मास्त्र चलाने से पहले तुम पांडवों के सर्वनाश की कामना की थी। मैं तुम लोगों को मारकर उस कामना को शायद पूरा न कर पाऊँ। परंतु मेरे पास तुम्हारा भावी वंश समाप्त करने का विकल्प अभी मौजूद है!” ऐसा कहकर मैंने ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ पर केंद्रित कर दिया।

आकाश में भीषण नाद हुआ और सहसा मेरे ब्रह्मास्त्र ने अपनी दिशा बदली और पांडव शिविर में घुस गया। कुछ क्षण बाद, सर्वत्र हो रहा विनाश थम गया। अस्त्र ने अपना लक्ष्य भेद दिया था। वह उत्तरा के गर्भ पर गिरा और उसके भीतर पल रहा अर्जुन का वंशज निष्प्राण हो गया!

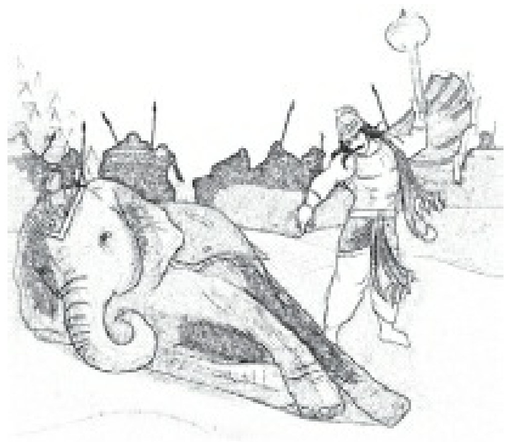

28

यह सबकुछ हो जाने के बाद मुझे अपना जीवन निस्तेज और निरुद्देश्य लगने लगा। हा! यह मैंने क्या किया? मुझे अपने मामा कृपाचार्य के शब्द याद आ रहे थे, जो उन्होंने मेरी प्रशंसा में कहे थे। क्रोध और प्रमाद ने मेरा सर्वस्व लूट लिया था। मैंने अपने विवेक, सद्भाव और संयम से जो कुछ ख्याति एवं प्रशंसा अर्जित की थी, वह सब मिट्टी में मिल गई। इस बोध ने मेरे क्रुद्ध व दग्ध मन को ठंडा कर दिया। मन शांत होने पर क्रोध का स्थान ग्लानि ने लिया।

ग्लानि रेचन प्रक्रिया का प्रथम तथा प्रायश्चित, उसका दूसरा सोपान है। मुझे ग्लानि का पूर्ण आभास था, किंतु अब मेरा मन प्रायश्चित के लिए तत्पर हो रहा था। मुझे लगा कि इस जघन्य पाप को करने से मैंने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध ले लिया था। तथापि हिंसा द्वारा हिंसा का प्रतिकार करना और हत्या द्वारा हत्या का प्रतिशोध लेना अमानवता की पराकाष्ठा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मैं यह सब सोच रहा था कि तभी श्रीकृष्ण मेरे पास आ गए।

कृष्ण ने कहा, “अश्वत्थामा! तुमने ब्रह्मास्त्र का दुरुपयोग करके जो अपराध किया है

उसका दंड तो तुम्हें अवश्य ही मिलेगा परंतु तुमने उत्तरा के गर्भ में पल रहे शिशु की हत्या का जो जघन्य पाप किया है, उसके लिए कोई भी दंड कम है! तुम्हारे द्वारा किए ब्रह्मास्त्र के दुरुपयोग से अब इस प्रदेश में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं होगी। इसके कारण यहाँ के निवासियों को तरह-तरह के कष्ट झेलने पड़ेंगे। इन सबके उत्तरदायी तुम हो। इसके अतिरिक्त, तीनों लोकों में तुम्हारे मूर्खतापूर्ण कार्य के चलते भयंकर विनाश हुआ है और प्राणि जगत को भारी क्षति हुई है। वह पाप भी तुम्हारे सिर पर है! तुम्हारे इस प्रमाद-जनित कृत्य का यह दंड है कि तुम्हारे मस्तक में जो यह दिव्य मणि है, वह तुम्हें निकालकर देनी होगी, उसके बाद ही तुम्हें पांडवों से अभयदान मिल सकेगा!"

"हे कृष्ण," मैंने आर्त स्वर में उत्तर दिया, "पांडवों और कौरवों के पास जितने भी रत्नादि हैं, यह मणि उन सबसे अधिक मूल्यवान है। यह कोई साधारण मणि नहीं है। यह मेरे जन्म के समय से मेरे मस्तक में लगी हुई है। इसे धारण करने वाले व्यक्ति को अस्त्र-शस्त्र और व्याधियों से कोई भय नहीं रहता और न ही उसे क्षुधा सताती है। यहाँ तक कि देवता, नाग, राक्षस आदि भी इस मणि के धारक का अहित नहीं कर सकते। यही कारण है कि इतने लंबे और भीषण युद्ध के बाद भी मेरे शरीर पर किसी तरह का कोई घाव नहीं है। परंतु मैं अपने किए पाप का उत्तरदायित्व स्वीकार करता हूँ और इसके लिए आपने जो दंड निर्धारित किया है उसे भी स्वीकार करता हूँ!" ऐसा कहकर मैंने अपनी कमर में बँधा छुरा निकाला और अपने मस्तक में लगी मणि के किनारे पर चीरा लगा दिया। मेरे मस्तक से रक्त की धारा फूट पड़ी। भयंकर पीड़ा से मेरा तन काँप रहा था। वहाँ खड़े देखने वालों के मुख खुले रह गए। मैंने छुरे की तीखी नोक को मस्तक के भीतर तक घुसा कर अपनी दिव्य मणि को झटके-से बाहर खींच लिया। वह अद्‌भुत मणि, जो कर्ण के कवच-कुंडल की भांति मेरे शरीर का अंग थी, मेरे मस्तक से बाहर निकल आई। मैंने एक हाथ से मणि को पकड़ा और उसे धीरे-से श्रीकृष्ण के हाथ पर रख दिया।

मणि के बाहर निकलते ही मेरा शरीर तेजहीन होने लगा। मुझे लगा मानो मेरे भीतर वर्षों की थकान व्याप्त थी और मुझे अब उसका एहसास हो रहा था। मैं अत्यंत दुर्बल महसूस कर रहा था। मेरे मस्तक से रक्त की धार बह रही थी। मैं सिर झुकाए खड़ा कृष्ण के अगले आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि मैं जानता था कि मुझे अब तक सिर्फ़ ब्रह्मास्त्र को चलाने का दंड मिला था। उसे उत्तरा के गर्भ पर छोड़ने तथा पांडवों के अंतिम वंशज की हत्या का हिसाब होना अभी शेष था!

मेरे मस्तक से निकली मणि, श्रीकृष्ण के हाथ में लघु सूर्य की भांति जगमगा रही थी। उन्होंने मणि पर दृष्टि डाली और फिर उसे युधिष्ठिर को सौंप दिया। इसके बाद वे बोले, "अश्वत्थामा! तुमने पांचाल शिविर में घुसकर निर्दोष सैनिकों, योद्धाओं, बालकों व स्त्रियों की निर्ममता से हत्या की है और पांडवों के पाँच निर्दोष पुत्रों को भी मारा है। यदि यह सब करके भी तुम्हारे प्रमादी व उद्विग्न मन को शांति मिल जाती तो ठीक था, किंतु तुम्हें इतने भारी नरसंहार से भी संतोष नहीं हुआ तो फिर तुमने ब्रह्मास्त्र चलाया और जब तुम उस दिव्यास्त्र

की शक्ति को नियंत्रित नहीं कर पाए, तो तुमने उससे एक गर्भस्थ शिशु की हत्या कर डाली! तुमने जो अस्त्र चलाया है उसका वार अमोघ है। उसकी चोट से उत्तरा के गर्भ में पल रहे अभिमन्यु-पुत्र की हत्या होना निश्चित है। परंतु यदि तुम सोचते हो कि तुमने ऐसा करके पांडवों के वंश को समाप्त कर दिया है तो यह तुम्हारी भूल है। मुझे यूं तो विधि के विधान में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, परंतु तुमने आवेश में आकर दिव्यास्त्र के दुरुपयोग द्वारा पांडवों के कुल का नाश करने का महापाप किया है। इसलिए, मैं उसके परिशोधन हेतु अपनी दैवी-शक्ति के प्रयोग से उस निर्दोष बालक को फिर से जीवित कर रहा हूँ, जिसकी तुमने गर्भ में हत्या की है! यह बालक बड़ा होकर परीक्षित के नाम से विख्यात होगा तथा तुम्हारी आँखों के सामने, पांडव कुल की कीर्ति को आगे बढ़ाएगा। मैं पांडव वंश को समाप्त करने की तुम्हारी इस घृणित युक्ति को विफल कर रहा हूँ!"

मुझे विश्वास हो गया था कि मेरे इस पाप के लिए कृष्ण मुझे अवश्य मृत्यु-दंड देंगे, किंतु जब उन्होंने यह कहा कि 'वह बालक मेरी आँखों के सामने पांडवों की कीर्ति को आगे बढ़ाएगा,' तो मैंने राहत की साँस ली क्योंकि इसका अर्थ यह था कि श्रीकृष्ण ने मुझे जीवनदान दे दिया था। मैं यह सोचकर मन में प्रसन्न हो रहा था कि मैं अभी कुछ समय और जीवित रहने वाला था, कि तभी मुझ पर भयंकर वज्रपात हुआ।

श्रीकृष्ण ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "परंतु अश्वत्थामा, मेरी बात अभी समाप्त नहीं हुई है। यह युद्ध है, और युद्ध में रक्तपात होना स्वाभाविक है। मैं तुम्हें पांचाल-शिविर में निर्मम नर-संहार और द्रौपदी के सोते हुए पुत्रों की हत्या करने के लिए क्षमा कर सकता हूँ, किंतु हे अश्वत्थामा! तुमने अपने पिता द्वारा दिए गए ब्रह्मास्त्र की शक्ति का दुरुपयोग किया है और उत्तरा के गर्भ में पल रहे शिशु की हत्या की है। पृथ्वी पर अपनी शक्ति के दुरुपयोग तथा भ्रूण-हत्या करने से अधिक जघन्य अपराध कोई नहीं हैं। इनके लिए तुम्हें दंड अवश्य मिलेगा। इसलिए मैं वासुदेव कृष्ण, तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम हज़ारों वर्षों तक इस पृथ्वीलोक पर भटकोगे। तुम्हारे शरीर से निरंतर लहू और पीब का रिसाव होता रहेगा। घावों के सड़ जाने से, तुम्हारे तन से भयंकर दुर्गंध आएगी और मनुष्य तो क्या, संसार के पशु-पक्षी तक तुम्हारे निकट आने से कतराएँगे। शीघ्र ही, संसार के लोग तुमसे बातचीत करना छोड़ देंगे और तुम्हें इस विशाल पृथ्वी पर हज़ारों वर्षों तक, अकेले, इस असहनीय कष्ट को सहन करना पड़ेगा। तुम जर्जर अवस्था में, अपने सड़े हुए तन का बोझ ढोते, दुर्गम वनों में घूमते रहोगे। इस संसार में अनेक लोग हैं, जो चिरंजीवी हैं, अमर हैं किंतु उन्हें वह अमरता वरदान में मिली है। तुम अकेले अपवाद हो, जिसे यह शाप में मिली है! अन्य लोगों के लिए, जहाँ उनकी अमरता हर्ष और गौरव का विषय है, वहीं तुम्हारी अमरता अभिशाप बनकर आजीवन तुम्हारे साथ चलेगी!"

श्रीकृष्ण का कठोर शाप सुनकर मेरी आत्मा काँप उठी। हज़ारों वर्षों का कष्टपूर्ण, जर्जर और एकाकी जीवन! मैं ऐसे जीवन का क्या करूँगा? मैं श्रीकृष्ण के चरणों में सिर रखकर रोने लगा। "हे गोविंद!" मैंने कृष्ण से विनती की, "मुझ पर दया कीजिए। मैं अपने

समस्त पाप स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी शरण में हूँ, माधव! आप चाहें तो सुदर्शन चक्र से इसी क्षण, मेरे प्राण ले लीजिए। आप जो भी दंड देंगे, मैं उसे सहर्ष स्वीकार कर लूँगा, किंतु मुझे इस भयंकर शाप से मुक्त कर दीजिए। प्रभु, मैं हज़ारों वर्ष तक ऐसी दुर्दशा में जीवित रहकर क्या करूँगा? मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे सड़े हुए मांस का लोथड़ा बनाकर मत छोड़िए, केशव...दया कीजिए...मुझ पर कृपा कीजिए!”

मैंने सिर उठाया तो, मैं आश्चर्यचकित रह गया। वहाँ कोई नहीं था। श्रीकृष्ण सहित पांडव एवं अन्य सब लोग जा चुके थे। वहाँ, केवल मैं था - अकेला! सहसा, मेरे शरीर में परिवर्तन होने लगा। वह जगह-जगह से कटने-छिलने लगा और उसमें से रक्त और पीब का स्राव हो रहा था। श्रीकृष्ण के शाप का प्रभाव आरंभ हो गया था! मैं फूट-फूटकर रोया, चीख़ा-चिल्लाया, किंतु यह भी कृष्ण के शाप का प्रभाव था कि कुछ देर पहले लोगों से भरा वह स्थान, सहसा निर्जन हो गया था।

उपसंहार

उस भयंकर घटना को हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच, मेरी जो दुर्दशा हुई है, मैंने उसका थोड़ा-सा वर्णन आरंभ में किया था। अब मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि मैं अपनी व्यथा का पूरा वर्णन करने लायक़ भी नहीं रहा। मैंने तो अब यह सोचना भी छोड़ दिया है कि मुझे इस दयनीय दशा में अभी और कितने वर्ष यूं ही सड़ना है क्योंकि मैं इसे जीवन कह नहीं सकता और मृत्यु मेरे वश में नहीं है!

इस पीड़ादायक जीवन को भोगने पर भी मुझे इस बात का संतोष है कि मैंने भीम को खीर में विष मिलाकर मारने के षड्यंत्र में दुर्योधन का साथ नहीं दिया। मुझे ख़ुशी है कि मैं लाक्षागृह में पांडवों को मारने की योजना में भी दुर्योधन के साथ नहीं था। मुझे इस बात की भी तसल्ली है कि जिस समय मेरे पिता आचार्य द्रोण ने एकलव्य और कर्ण जैसे धनुर्धरों का अधिकार उनसे छीना, उस समय मैंने भीतर से सुखद अनुभव नहीं किया और ऐसे सभी अवसरों पर मैं अपने पिता के चारित्रिक दोषों का निष्पक्ष उल्लेख करने का साहस जुटा पाया हूँ। मुझे यह सोचकर राहत मिलती है कि कुरु राजसभा में, जिस समय द्रौपदी का चीर-हरण करके उसे अपमानित किया जा रहा था, मैंने पांडवों की पत्नी पर कुदृष्टि डालकर अपने चरित्र का पतन नहीं होने दिया। मुझे ऐसी अनेक बातों का संतोष है जब मैंने दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करने के बावजूद अंत समय तक अपनी शुचिता को बनाए रखा। इन्हीं कुछ बातों ने मुझे संभवतया यह साहस प्रदान किया है कि मैं संसार के समक्ष अपनी बात तटस्थता से रखने में सफल हो सका हूँ। इन बातों का उल्लेख करके, स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने की मेरी मंशा नहीं है। मैं पूर्ण निष्ठा के साथ यह भी स्वीकार करता हूँ कि मुझसे युद्ध के दौरान अपराध हुए हैं।

मैं अपने पिता से अत्यधिक प्रेम करता था और इसलिए मैं उनकी छलपूर्ण हत्या सहन नहीं कर पाया। उसके परिणामस्वरूप, मैं अपना विवेक खो बैठा और मैंने पांचालों के शिविर में घुसकर निर्दोषों का रक्त बहाया और निर्मम नरसंहार किया। मेरे पिता ने मुझे ब्रह्मास्त्र, जन-कल्याण के लिए दिया था परंतु मैंने हठ और अहंकार वश, उस शक्ति का दुरुपयोग किया, जिससे समस्त पृथ्वी के प्राणियों का जीवन संकट में पड़ गया था। श्रीकृष्ण के समझाने के बावजूद, मैं अपनी उस शक्ति को नियंत्रित नहीं कर सका और उस विध्वंसकारी

अस्त्र का संधान, एक निर्दोष गर्भवती स्त्री के ऊपर कर बैठा तथा उसके गर्भ में पल रहे शिशु की हत्या कर दी! मैं यदि थोड़ा धैर्य रखता और वासुदेव कृष्ण से क्षमा माँगकर, अपने ब्रह्मास्त्र को रोकने का उपाय पूछता तो वे अवश्य कोई युक्ति सुझा देते, किंतु वहाँ मुझसे फिर भूल हो गई। यही दो मुख्य कारण थे जिनके लिए कृष्ण ने मुझे शाप दिया था। मुझे इन सब कुकर्मों का दंड मिलना ही चाहिए था।

मैंने इन बीते हज़ारों वर्षों में मानव सभ्यता को अनेक बार करवट लेते देखा है। मैंने असंख्य युद्ध देखे हैं, मैंने रक्तपात देखा है, मैं घोर नरसंहार का साक्षी रह चुका हूँ। मैंने मनुष्यों को राक्षसी कर्म और जघन्य पाप करते देखा है। परंतु मैंने आज तक किसी पापी, अधर्मी या हत्यारे को इस तरह का रौरव-कष्ट भोगते अथवा ऐसा शापित जीवन जीते नहीं देखा। यह मेरा दुर्भाग्य है कि इतना कुछ देखने और सहन कर लेने के बाद, मैं अब तक जीवित हूँ। मुझे अब स्थान, दिशा और समय का कोई बोध नहीं है। मुझे स्वयं नहीं पता कि मैं पृथ्वी के किस भाग में, कितने समय से विचरण कर रहा हूँ।

मैंने कृष्ण द्वारा दिए कठोर दंड को स्वीकार तो कर लिया परंतु एक प्रश्न मेरे मन में हमेशा उठता रहा कि श्रीकृष्ण ने मुझे इतना लंबा शाप क्यों दिया? ऐसी दुर्दशा के साथ तो कुछ समय का शाप भी मनुष्य के लिए काटना मुश्किल हो सकता था, तो फिर हज़ारों वर्ष का शाप क्यों?

चूंकि मेरे पास इन बीते वर्षों में करने के लिए कोई काम तो था नहीं, इसलिए मैं इसी प्रश्न पर चिंतन-मनन करता रहा। बहुत समय तो मुझे यही लगता रहा कि मुझे इस जर्जर और दयनीय अवस्था में इतने लंबे समय तक जीने का विकट शाप देकर श्रीकृष्ण ने मेरे साथ अन्याय किया है। परंतु, फिर मुझे ध्यान आया कि श्रीकृष्ण तो स्वयं ईश्वर हैं; उनके विधान में त्रुटि होने का तो प्रश्न ही नहीं है! इसका अर्थ यह हुआ कि यह शाप देने के पीछे कृष्ण का अवश्य कोई मंतव्य रहा होगा। समय ज्यों-ज्यों कलियुग की परिधि में प्रवेश करता गया, मेरे सामने इस दीर्घकालिक शाप का उद्देश्य स्पष्ट होता गया।

कृष्ण जानते थे कि वह शाप मेरे लिए असहनीय होगा। परंतु श्रीहरि विष्णु का अवतार होने के कारण कृष्ण ने भविष्य में झाँक लिया था कि कलियुग में, पृथ्वी पर अधर्म बढ़ेगा। वे जानते थे कि आने वाले समय में लोग तरह-तरह के विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों को बनाकर उनका दुरुपयोग करेंगे तथा मनुष्य, मनुष्य के रक्त का प्यासा हो जाएगा। श्रीकृष्ण को इस बात का भी पूर्वाभास हो गया था कि कलियुग में, लोगों के मन में कन्या की अपेक्षा, पुत्र की कामना अधिक बलवती हो जाएगी, जिसके कारण समाज में गर्भस्थ शिशुओं, विशेषकर कन्याओं, की हत्या में अप्रत्याशित वृद्धि होने लगेगी। इससे प्रकृति का संतुलन बिगड़ेगा और समाज में विकृति उत्पन्न हो जाएगी। इस प्रकार, श्रीकृष्ण ने मेरे द्वारा किए गए दोनों अपराधों की भविष्य में पुनरावृत्ति होती देख ली थी। मेरा ऐसा अनुमान है कि इसी कारण, भगवान मेरे माध्यम से कलियुग-वासियों को यह संदेश देना चाहते थे कि ईश्वर के विधान में, शक्ति के दुरुपयोग और गर्भस्थ शिशुओं की हत्या के लिए अत्यंत भयंकर और पीड़ादायक दंड

निर्धारित है!

कृष्ण ने अपने इसी संदेश को कलियुग तक पहुँचाने के लिए मुझे जीवित छोड़ दिया था ताकि लोग मेरे विषय में जानें और मुझसे सीखें कि ऐसे अपराधों का परिणाम कितना असहनीय हो सकता है।

मैं इतने वर्षों के बाद, इस बात को समझ पाया कि श्रीकृष्ण, मुझे यह शाप देने के लिए विवश थे। परंतु उन्होंने मुझे अपना उद्देश्य उस समय नहीं बताया क्योंकि वह ईश्वर की भावी योजना का हिस्सा था और साधारण मनुष्यों को भविष्य की जानकारी नहीं होनी चाहिए!

मैं यह स्पष्ट देख सकता हूँ कि कृष्ण ने मेरे साथ जो किया, वह मानव समाज को विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों के दुरुपयोग तथा भ्रूण-हत्या जैसे जघन्य अपराध से दूर रखने के लिए नितांत आवश्यक था। मैं चाहता हूँ कि उन दुष्कर्मों के लिए, मैंने जो पीड़ा भोगी है, वह किसी अन्य मनुष्य को न भोगनी पड़े। मुझे लगता है कि मैंने इस कथा के माध्यम से, ईश्वर का वह संदेश लोगों तक पहुँचा दिया है, जिसके लिए कृष्ण ने मुझे जीवित छोड़ दिया था। इसलिए, मैं सुदर्शन चक्रधारी भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता हूँ कि अब वे मेरे ऊपर कृपा करें और मुझे इस असहनीय कष्ट से मुक्त कर दें!

जो लोग, मुझे अमर मानते हैं तथा मंदिरों, जंगलों और निर्जन स्थानों में खोजते फिरते हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि मनुष्य का शरीर नहीं, अपितु उसके विचार और संदेश अमर रहते हैं। इसीलिए, अन्य मनुष्यों की भांति, मेरा शरीर नश्वर है और मैं भी इस मर्त्यलोक को त्यागकर चला जाऊँगा, परंतु वासुदेव कृष्ण का यह संदेश सदा अमर रहेगा। उनके द्वारा दिए शाप की कथा सदा अमर रहेगी। मैं ज़िंदा हूँ और सदा ज़िंदा रहूँगा!!